पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 34 मई-जून 2011

संपादक

भारत भारद्वाज

सहायक संपादक

जयपाल सिंह

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता
अंक : 34 मई-जून 2011

प्रकाशक :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

© संबंधित लेखकों द्वारा
पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र दिल्ली।

एक अंक : ₹ 20
वार्षिक सदस्यता : ₹ 120
दिल्ली से बाहर के चेक के लिए वार्षिक ₹ 145 रु. और द्वैवार्षिक ₹ 265। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।
चेक/ड्रॉफ्ट कृपया क्षेत्रीय विस्तार केंद्र (दूरस्थ शिक्षा), म.गां.अ.हि.वि., नई दिल्ली के नाम से भेजें।

संपादकीय, बिक्री और वितरण केंद्र
प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय विस्तार केंद्र (दूरस्थ शिक्षा)
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
ब्लॉक-सी/60, प्रथम तल, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017
टेली-011-26677365 E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com
011-41683875 मो.-09313034049 (संपादकीय)
E-mail : bhardwaj_bharat@yahoo.com

PUSTAK-VĀRTĀ
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Manas Mandir, Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (09212796256)

आवरण-सज्जा : वाजदा खान

अनुक्रम

संपादकीय	: बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण/पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी	4
उपन्यास	: **कहां है अब बुद्ध**?/ अर्पण कुमार	8
	: **वायवीय प्रेम की कठोर पृष्ठभूमि**/ सरिता शर्मा	9
कहानी	: **मानवीय अपील की कहानियां**/ राजीव कुमार	11
	: **कहां है आम आदमी**?/ धीरज मिश्रा	13
	: **देह और मन पर अधिकार मांगती औरत**/ जाहिद खान	15
कविता	: **सपनों से कैसे बनते हैं सपने**/ केवल गोस्वामी	17
	: **सुदीप बनर्जी का साफ आसमान**/ सुभाष शर्मा	19
	: **रमणीय यात्रा का काव्यात्मक वृतांत**/ बृजेश कुमार पांडेय	21
	: **कविता का दर्द : सच्चिदानंद जोशी**/ हितेश कुमार सिंह	23
आलोचना	: **मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का काव्य-विवेक**/ स्वर्ण प्रभात	25
	: **साहित्य चिंतन-परंपरा की एक कड़ी**/ मनोज पांडेय	27
	: **शोध के बहाने मैला आंचल की समाजशास्त्रीय पड़ताल**/ प्रेम शशांक	29
	: **केदार सम्मान के कवि**/ राकेश बहादुर सिंह	31
आत्मकथा	: **सरलता का आकाश**/ साधना अग्रवाल	33
नाटक	: **धुआं की जड़ और छोटी ड्योढ़ीवालियां का आकाश**/ राजेश्वरी सिंह	35
हास्य-व्यंग्य	: **सफेद रंग के इंद्रधनुष की रचना**/ सुशील त्रिवेदी	37
यात्रा	: **रूसी घटाटोप कोहरा और सुगबुगाती करवटें**/ राकेश कालिया	39
संगीत	: **शहनाई के उस्ताद की स्मृति**/ ज्योतिष जोशी	41
मीडिया	: **टेलीविजन : सिद्धांत एवं व्यवहार का तनावमूलक सहअस्तित्व**/ रामप्रकाश द्विवेदी	43
जन्मशती	: **राधाकृष्ण : जिनकी जन्मशती का वर्ष है यह**/ विद्याभूषण	45
पुरखों के कोठार से	: **मैं ऐसे बाबा का चेला हुआ!**/ भारत यायावर	48
टिप्पणी	: **प्रेमचंद पर नई खोज को देखो, पहचानो और तब बोलो**/ कमल किशोर गोयनका	50
समय - जुलाहा	: **'जनवाणी' : चौथाई सदी पहले का प्रसारण उत्सव और प्रसारण-त्रासदी**/ कुबेर दत्त	53
हस्तक्षेप	: **गांधी बिकाऊ नहीं, टिकाऊ हैं**/ अनंत विजय	55

संपादकीय

बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण

पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

(इस बार संपादकीय की जगह पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरीजी का 'बाबू अयोध्या प्रसाद (खत्री) के स्मरण' जा रहा है। द्विवेदी युग के आरंभ में खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा को लेकर घनघोर विवाद हुआ था। खत्री जी खड़ी बोली कविता के पक्षधर थे। इसी क्रम में वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा गए थे खड़ी बोली कविता की वकालत करने। उनका यह दुर्लभ स्मरण गुलेरी रचना संचयन (सं. पीयूष गुलेरी/प्रत्यूष गुलेरी, प्रकाशक साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 200) से साभार उद्धृत किया जा रहा है।

—संपादक

कष्टो जनः कुलधनैरनुरंजनीय
स्तन्मे यदुक्तमशिवं नहि तत् क्षमं ते।
नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा
मूर्ध्नि स्थितिर्न रचनणैरवताडनानि॥
(भवभूतेः)

'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' का गृहप्रवेशोत्सव मंगलपूर्वक हो चुका था। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी जी ने *धनि भाग आज या भवन में नाथ तिहारे पग पड़ै* कहकर सर डिग्गस लाटूश का स्वागत किया था और माननीय पण्डित मालवीय ने चमकती अंग्रेज़ी की छोटी स्पीच में उन्हें 'गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ' कह दिया था। दूसरे दिन प्रातःकाल का समय है। मि. जैन वैद्य और हम, सिद्धेश्वर प्रैस से, कपड़े पहनकर बाहर निकलने को तैयार हैं। इतने में एक सज्जन 'जैन वैद्य जी हैं क्या?' इस प्रश्न के पीछे आ खड़े हुए। हमने देखा, उनके शरीर पर मोटे बनारस सिल्क का चपकन और चोगा है, पजामा है, बादामी बूट हैं। सिर पर उस ढंग का बंगाली शमला है, जिस ढंग का महामहोपाध्याय पदवी पानेवालों को सरकार से ख़िलत में मिला करता है। पूछने पर उन्होंने परिचय दिया कि—"मैं मुज़फ़्फ़रपुर से आता हूं।" इस पर हम अपनी मुस्कुराहट को न रोक सके, क्योंकि काशी में दो दिन से ही 'खड़ी बोलीवाला आता है, खड़ीबोली वाला आता है' की धूम मच रही थी। जिस मूर्ति के लेख, नाम

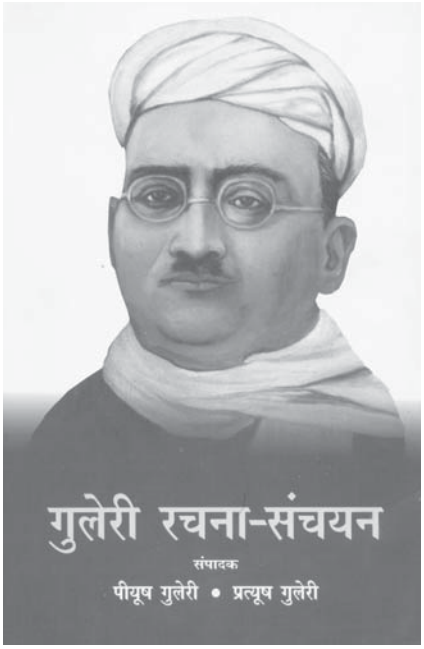

और वर्णन पत्रों में पढ़े जाया करते थे, उसे यों अचानक सामने देखकर एक विलक्षण भाव उत्पन्न हुआ। अस्तु, परस्पर के परिचय के पीछे हम लोग एक गाड़ी पर सवार होकर चले। पहले मैंने प्रश्न किया कि आप कल के उत्सव में आ चुके थे या नहीं। उन्होंने इसके उत्तर में 'हां' कहकर कहा कि एड्रेस गंवारी बोली में क्यों दिया गया, यदि वह खड़ी बोली में होता तो हम मुसलमानों को भी अनुकूल कर सकते। **गंवारी बोली यह बाबू अयोध्या प्रसाद का 'ब्रजभाषा' के लिए प्यारा नाम था।** एक-आध बार उन्होंने उस दिन भी कहा—"जब तक यह गंवारी हमारे सभ्य साहित्य का पल्ला न छोड़ेगी, तब तक इसकी उन्नति न होगी।" हमने भी कहा—"आप तलाक़ दिलाकर मानिएगा!" अस्तु, बाबू साहब को उन कठिनाइयों का ज्ञान न था, जो खड़ी बोली में एड्रेस देने पर सभा को पड़तीं, क्योंकि सबके सामने पॉलिसी में 'सरल भाषा के पक्षपाती' बननेवालों को निख़ालिस उर्दू शब्द काम में लेने पड़ते और काशी के नाम को कुछ गौरव से रहित करना पड़ता। हमने ध्यान से देखा बाबू अयोध्याप्रसाद के नेत्र बिलकुल श्वेत थे। उनके बाल कहीं-कहीं सफ़ेद थे, इसलिए इस अवस्था में भी आंखों में लाल डोरों के अभाव का हम पर असर पड़ा। हम ज्यों-ज्यों ध्यान से उन पथराई हुई 'धौली आंख धणी' को देखते थे, त्यों-त्यों उनकी भाव-शून्यता और नीरसता मालूम होती जाती थी, जो मनुष्यों में अधिकांश के साथ विरोध रखने का फल और लक्षण है। वे कुछ ठहर-ठहरकर श्वास लेते थे और चकित होकर इधर-उधर ताकते थे, मानो किसी भय में हैं। उनके अधरोष्ठ पर दो दांत निकले हुए थे और उनके ओष्ठ कुछ खुले हुए ही रहते थे। मालूम होता है यह gape करने की आदत उन्हें अधिक विरोध की शंका से हो गई थी। पंडित नारायण पांडे के कालनिर्णय की बात चली तो, उन्होंने कहा कि मुझे कलेक्टर साहब ने मुक़द्दमे में रजामंदी करने को बाधित किया था। उन्होंने कहा था—This case must be compromised

out of court। पीछे जब उन्हें मालूम हुआ कि हम सारस्वत ब्राह्मण हैं तो वे बोले, ''हम खत्री हैं, आपके यजमान हैं, आपको तो हमारा पक्ष लेना चाहिए न कि पंडित नारायण पांडे का, जो आप से भिन्न ब्राह्मण हैं।'' हमारे भिन्न ब्राह्मण का अर्थ पूछने पर उन्होंने कहा कि **ब्रजभाषा के पक्षपाती हरिश्चंद्र अगरवाले थे और हम खड़ी बोली के रिफ़ार्मर खत्री हैं, इससे भी आपको हमारी ही तरफ़ होना चाहिए।** इस तर्क से हम दंग आ गए। सभावाले हिन्दी साहित्य का एक इतिहास लिखनेवाले हैं, इस प्रसंग में आपने कहा, ''चाहे ये लोग कुछ करें, इनके ब्रेन नहीं हैं; हमें चार घंटे किसी लाइब्रेरी में बिठा दीजिए, झटपट इतिहास लिख डालें। ये लोग ऐसा ब्रेन कहां से लावेंगे?'' फिर उनके खड़ी बोली आंदोलन की वर्तमान अवस्था और सभा में उनके प्रस्ताव की सफलता की बात चली। उन्होंने कहा—**प्रभुदयाल पांडे पंडित प्रतापनारायण मिश्र का शिष्य था। उसने प्रतापनारायण मिश्र को खड़ी बोली का आदि पक्षपाती लिखा है।** इस पर हमने लिखा कि जैसे परशुराम ने जमदग्नि के वास्ते कार्तवीर्य को बलि दे दिया, उसी तरह से आप हमें भी अपने गुरु के लिए बलि दे दीजिए। अब हम बनारस में आए हैं, आप लोग सब मिलकर हमें मार डालिए—मार डालिए, हां साहब मार डालिए।'' इतने में चौंकते हुए हम 'चौक' पहुंचे, और वहां माननीय पंडित मालवीय जी की गाड़ी सामने से आ गई। वहां उन्होंने हमें अपने साथ क्वींस कॉलेज ले जाने का आग्रह किया। लाचार हमें बाबू अयोध्याप्रसाद की मनोरंजक बातों से विदाई लेनी पड़ी। हमने उन्हें अपने साथ जाने को तैयार न पाकर पूछा कि आप कहां ठहरे हैं? उत्तर मिला, ''गाय घाट पर, वहां मेरी लड़की का ससुराल है। वे भी बनारसिए हैं, दो-तीन साल से उसे मेरे घर नहीं भेजते। इन बनारसियों के एक समूह ने तो मेरी खड़ी बोली को दुःख दे रखा है और दूसरा मेरी पुत्री को मेरे से मिलने के लिए भी नहीं भेजता।'' इस पर हमने हँसकर कहा कि ''बेटियां अपने ही घर शोभा पाती हैं, पिता के घर नहीं। आप दोनों को अच्छी तरह इन्हीं बनारसियों के हवाले कर दीजिए।'' हम पर हँसकर हाथ मिलाकर बाबू साहब चले गए।

उस ही दिन सायंकाल को फिर बाबू अयोध्याप्रसाद के दर्शन हुए। सभा के पुस्तकालय में बाबू साहब बैठे थे। वहीं पर उन्होंने हमको पंडित केशवराम भट्ट का हिंदी व्याकरण दिखाया और शिवहर स्कूल के हेडमास्टर रामदास राय का बनाया खड़ी बोली कविता में मिल्टन के *पैरेडाइज़ लास्ट* की द्वितीय पुस्तक का अनुवाद मिस्टर जैन वैद्य को, और उनके द्वारा हमको दिया। पीछे उन्होंने अपना वह लेख भी हमें दिखाया, जिसे वे कल की सभा में पढ़ा जाने के लिए लाए थे। इससे पीछे एक ऐसी शोचनीय घटना हुई, जिसका उल्लेख हम नहीं करना चाहते, परन्तु बाबू साहब की स्वर्गीय आत्मा के अनुरोध से हमें उसे कहना ही पड़ता है। उस समय सभा के सभी उपस्थित मेंबरों का फ़ोटो लिया जानेवाला था।

'विमल बी.ए. पास बाबू श्यामसुंदरदास' हम तो हाथ पकड़ कर तीन-तीन दफे फ़ोटो के लिए ले चले, परंतु बाबू साहब से उन्होंने आंख तक न मिलाई। यही नहीं, यदि हम बाबू साहब को पकड़ कर के ले जाते, तो शायद मेरे पास की कुर्सी पर बैठे रहने और मुझ से बातचीत करते रहने पर भी उन्हें कोई फ़ोटो के लिए न ले जाता। फ़ोटो में भी मि. वैद्य उन्हें अपने साथ लेकर खड़े हुए, नहीं तो बिचारे पांचवीं, छठी पंक्ति से भी बाहर धकेले गए थे। ख़ैर, फ़ोटो उतरा, मालवीयजी की सभा हुई। दूसरे दिन प्रातःकाल हम गंगास्नान से लौट रहे थे। राह में बाबू श्यामसुंदरदास के मकान पर पहुंचे। देखा कि ख़ासी मंडली जमी है। रेवरेंड एडविन ग्रीव्ज़ हैं, जो पूछ रहे हैं कि लोटा मांजने से क्यों पवित्र हो जाता है। बाबू गोपालदास हैं। शायद पंडित गणपति जानकीराम दुबे भी हैं और हैं ज़मीन छीलते हुए बाबू अयोध्याप्रसाद। प्रायः आध घंटा हम बैठे रहे, परंतु बाबू अयोध्याप्रसाद से कोई न बोला। उनकी 'खड़ी बोली डायरी' के पृष्ठ पंडित गणपति दुबे के हाथ में थे। आख़िर बाबू साहब चले गए। तब बाबू श्यामसुंदर ने कहा कि, ''ये मुझसे यह कहने आए थे कि आज की सभा में मेरा प्रस्ताव बिना विरोध पास करा दो तो मैं सभा में आऊं। तुम लोगों ने बिहारी डेलिगेटों के न आने देने के लिए आजकल उत्सव किया है। इसके उत्तर में मैंने कहा कि मैं यह गारंटी नहीं दे सकता कि आपका प्रस्ताव बिना विरोध के पास हो ही जाएगा।'' हम भी चले आए। सायंकाल को सभा में बाबू साहब नहीं आए। बड़े झगड़े के बाद उनका प्रबंध पंडित गणपति जानकीराम दुबे ने पढ़ा। सभा में इसका कोई प्रबल विरोध नहीं हुआ। **अवश्य ही सभा ब्रजभाषा से हिंदी साहित्य का पिंड छुड़ाने को तैयार न थी, परंतु उसने इस प्रस्ताव के मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं की कि 'खड़ी बोली में भी कविता हो और सभा उसके लिए विशेष उत्साह प्रदान करे।'** बाबू राधाकृष्णदास के जलपान में भी बाबू अयोध्याप्रसाद नहीं आए थे। दूसरे दिन बाबू राधाकृष्णदास से वे मिले थे। अपनी परम प्रसन्नता और सभा के 'सुबह के भूले के शाम को घर लौट आने' पर हर्ष प्रकट करके अपने घर चले गए। वहां जाकर उन्होंने लाल स्याही से अपना खड़ी बोली का विजय घंटा घोष छापा, बस, यही हमारा उनका साक्षात्कार हुआ। यह फ़रवरी की बात है। अगली गर्मियों में बाबू साहब ने मिस्टर जैन वैद्य को और हमको लीचियां बहुत खिलाईं, बहुत ही खिलाईं। हम सदा उन लीचियों और उनके मनोविनोदी दाता को स्मरण करेंगे। इस वर्ष गर्मियां ख़ूब पड़ीं और जब हम आबू में दुर्लभ लीचियों को जिह्वा से प्रत्यक्ष करते, तब हमें हठी, किंतु सरलहृदय, तीव्र, किंतु मुग्ध, साहित्य रिफ़ार्मर कहलाने के लोभी परंतु काम करनेवाले, बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण से हृदय में एक अपूर्व भाव उत्पन्न हो जाता।

काशी के साक्षात्कार के कुछ दिन पहले बाबू अयोध्याप्रसाद ने एक पंद्रह सेर का पुलिंदा मि. जैन वैद्य के पास भेजा था। उसमें बाबू अयोध्याप्रसाद का सर्वस्व था। या यों कहिए कि जिस-जिस पत्र में या जिस-जिस मित्र को उनके खड़ी बोली के बारे में जो टिप्पणी या लेख लिखा था, उनकी यह फ़ाइल थी। यह साहित्य का कौतुक, यह शास्त्रार्थों का किब्लेगाह, हमने और मि. वैद्य ने बड़े ध्यान से पढ़ा था। वे ही काग़ज़ बाबू साहब ने काशी की सभा के मौक़े पर भेज दिए थे। यही उनका अमोघ शस्त्र था, यह उनका गांडीव था। उनमें एक अंग्रेज़ी नोट भी हाथ का लिखा रखा था। यह लिखा किसी और का है, परंतु नीचे अंग्रेज़ी में Ayodhya Prasad हस्ताक्षर हैं और 24-12-03 तारीख़ है। इसका अनुवाद हम पाठकों को सुनाना चाहते हैं। साथ-साथ ब्रैकेट में जो टिप्पणियां हैं, वे हमारी लिखी हुई हैं—

हिन्दी कविता की भाषा में सुधार के दो पीरियड हैं।

(1) सन् 1876 से 1887 तक। इस पीरियड का आरंभ मेरे हिंदी व्याकरण के बनने से हुआ। उसके पीछे बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने *योगी* नामक पंडित स्टाइल की खड़ीबोली की कविता बनाई (1876), उसके पीछे बाबू महेशनारायण ने *स्वप्न* लिखा। यह मुंशी स्टाल में खड़ी बोली का निबंध है, जो वड्सवर्थ की *ओड आन इमार्टेलिटी* के छंद में बना है। (1881) (हिन्दी साहित्य की दृष्टि में ये दोनों ग्रंथ मर चुके हैं।)

(2) सन् 1887 से आजकल तक। मेरी *खड़ी बोली पद्य, प्रथम भाग* मुज़फ़्फ़रपुर में 1887 में छपा। वृंदावन के पंडित राधाचरण गोस्वामी ने इसकी तारीख़ 11-11-87 के *हिन्दोस्थान* में समालोचना की। इस पर उसी पत्र में मेरे दल के पंडित श्रीधर पाठक और विरोधी दल के पंडित प्रतापनारायण मिश्र में बड़ा भारी विवाद हुआ। इस बहस ने हिंदी साहित्य में जो कुछ भी प्रेम रखते थे, उनके सामने खड़ी बोली कविता के गुण और दोष रख दिए। उस समय से सभी विद्वानों ने इस विषय पर पूरा ध्यान दिया है और बहुत-सी खड़ी बोली कविताएं लिखी गई हैं।

पूरी तौर से देखा जाए तो फल संतोषजनक है, जैसा कि चाहा जा सकता है। इस आंदोलन से जो हिंदी भाषा उत्पन्न हुई, वह मेरी डायरी के पृष्ठ 21 में अंग्रेज़ी पीरियड की हिंदी का तीसरा काल नाम से लिखी गई है। जैसा मैंने ऊपर कहा है पहला साधारण आंदोलन आंदोलन मेरी *खड़ी बोली पद्य* के प्रथम भाग के छपने पर *हिंदोस्थान* के द्वारा आरंभ हुआ था। दूसरा साधारण आंदोलन सन् 1888 ई. में उसी पुस्तक के लंदन में छपने पर हुआ और *हिंदोस्थान* और आजकल बंद पंडित भुवनेश्वर मिश्र की संपादित *चंपारण चंद्रिका* ने इसमें भाग लिया। यद्यपि *हिंदोस्थान स्पष्ट* विरोधी नहीं था, तो भी उसने खड़ी बोली कविता पर कुटिल आक्षेप किए और *चंपारण चंद्रिका* ने इस पक्ष का समर्थन किया। (उन्हीं दिनों *चंपारण चंद्रिका* में बाबू अयोध्याप्रसाद ने खड़ी बोली *रामायण* के लिए प्रति पंक्ति एक रुपये का विज्ञापन दिया था। खेद है कि इस खड़ी बोली शाहनामे का कोई फ़िरदौसी नहीं खड़ा हुआ।)

आंदोलन का तीसरा समय जनवरी सन् 1901 की *सरस्वती* ने आरंभ किया। वहां प्रथम लेख भूमिका के संपादक ने यद्यपि खड़ी बोली आंदोलन का मंडन किया तो भी उसमें मेरे भाग को वह भूल गए। (शायद यही आंदोलन का उद्देश्य था कि खड़ी बोली के साथ बाबू साहब का भी नाम अवश्य रहे) इस पर पत्र व्यवहार और आंदोलन शुरू हुआ। देखो : मेरी डायरी पृष्ठ-1। यह भूल मार्च, 1901 की *नागरी प्रचारिणी पत्रिका* ने भी जारी रखी, परंतु उन सब ने अपनी ग़लतियां स्वीकार कीं और मेरे हक़ क़ुबूल किए। देखो : *सरस्वती* जून, 1901 ई.।

आंदोलन के इस समय में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात *काशी नागरी प्रचारिणी सभा* का मत परिवर्तन है। सभा में बहुत से जीवित विद्वान हैं और वे हिंदी साहित्य के उस वर्ग के प्रतिनिधि हैं, जो भूतपूर्व हरिश्चंद्र ने क़ायम किया था। उसने खड़ी बोली के विरुद्ध लिखा था और मेरे आंदोलन के विरोधी सदा उनकी दुहाई देते थे। अपनी पत्रिका के पृष्ठ 30 में सभा ने आंदोलन की बुरी समालोचना की थी और मुझे गालियां दी थीं, परंतु वह अब बिल्कुल बदल गई है और खड़ी बोली कविता का पक्ष लेती है। देखो, जनवरी, 1901 की *सरस्वती* का दूसरा पृष्ठ। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उस समय जो बाबू श्यामसुंदरदास *सरस्वती* के संपादक थे, वे *'नागरी प्रचारिणी सभा* के मंत्री थे और हैं। *सरस्वती* के टाइटिल पेज पर *नागरी प्रचारिणी सभा* के अनुमोदन से प्रतिष्ठित' भी मिलता है। फिर फ़रवरी-मार्च, 1903 ई. की सरस्वती के पृष्ठ 19 में नए संपादक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, जो सभा के मेंबर हैं, मेरे मत का पूरा समर्थन करते हैं।

इस आंदोलन का छोटा इतिहास *भूमिहार ब्राह्मण पत्रिका* भाग 3 संख्या 1 में छपा है—

अयोध्याप्रसाद, 24.12.03

मालूम होता है जैसे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र अपने कालचक्र में 'हरिश्चंद्री हिंदी नए चाल में ढली' लिख गए हैं, वैसे ही 'पंडित श्रीधर पाठक, बाबू हरसहायलाल (?) और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की हिंदी को अयोध्या प्रसाद के आंदोलन से सुधरी हिंदी' कहकर नया तट बांधने का बाबू साहब को बड़ा आग्रह था। इस पर उन्होंने मन-ही-मन में अपने शत्रु बना रखे थे। जब मार्च, 1901 की *नागरी प्रचारिणी सभा* पत्रिका में खड़ी बोली कविता को महारानी विक्टोरिया के राज्य-काल की एक घटना कहा गया, तब बाबू साहब ने पंडित श्रीधर पाठक को यह पत्र लिखा— 'सभावालों ने खड़ी बोली कविता में आपको सम्मानपूर्वक आसन दिया है, परन्तु जहां आप हैं, वहीं आपका सेवक मैं भी हूं, परंतु मेरा नाम नहीं लिखा गया। इसका कारण यह है कि मैंने तो 'एक अग्रवाले के मत पर एक खत्री की समालोचना' लिखी थी, और आपने *हरिश्चंद्राष्टक* की 1000 प्रति बांटी थीं।' शब्द हमें ठीक-ठीक स्मरण नहीं, पर उस पत्र का आशय यही था। इधर पंडित भुवनेश्वर मिश्र ने एक जगह यों लिखा है, ''पहले बाबू अयोध्याप्रसाद क़िले के नीचे खड़े थे और उन पर क़िले से हमला करते थे। अब बाबू साहब लकड़ियों और घास के सहारे क़िले के टीले पर चढ़ गए हैं।'' खड़ी बोली कविता का वास्तव में किसी ने विरोध नहीं किया। केवल पंडित राधाचरण गोस्वामी अपने विरोध में दृढ़ रहे। वास्तव में सभी खड़ी बोली के अनुकूल थे। भारतेन्दु की दुहाई दी जाती है, परंतु जैसा अच्छा उनका *दशरथविलाप* हुआ है, ऐसी मुंशी स्टाइल की खड़ी बोली क्या किसी ने लिखी है? बनारसी गिरि की लावनियां काशी में खड़ी बोली में बनती आई हैं। भारतेंदुजी के पिता का बनाया रेखते का पद है। काशी को जो ब्रजभाषा के पक्षपातियों और खड़ी बोली के विरोधियों का अड्डा कहा गया है, वह ठीक नहीं। भारतेन्दुजी ने एक जगह लिखा है कि मुझसे खड़ी बोली कविता अच्छी न हो सकी, परंतु उसका यह अर्थ नहीं है कि खड़ी बोली कविता करो ही मत। पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने *हिंदोस्थान में* खड़ीबोली का विरोध किया था। सही, परंतु *संगीत शाकुंतल* में जो बढ़िया खड़ी बोली कविता है, वैसी अयोध्याप्रसाद जी के किस पक्षपाती ने लिखी है? भूषण कवि के भी दो-तीन कवित्त खड़ी बोली के मिलते हैं। इसके विरुद्ध पंडित श्रीधर पाठक को लीजिए, जिन्हें बाबू अयोध्याप्रसाद अपना परम पक्षपाती मानते हैं। वास्तव में यदि खड़ी बोली में कोई कविता बनी है तो वह पाठक जी का *एकांतवासी योगी* है। जिन बिहारियों का नाम बाबू अयोध्याप्रसाद

बड़े आदर से लेते हैं, उनके खड़ी बोली काव्य हिंदी काव्य की दृष्टि में मर चुके हैं, परंतु पाठक जी का *उजाड़ ग्राम* अच्छा बना है व *श्रांत पथिक*? कहां पहले की द्राक्षापाक कविता और निसर्ग मधुर आनंद और कहां दूसरे को क्लिष्टकल्पना और खींच-खांचकर खड़े शब्दों की जोड़ तोड़? अब भी पाठक जी का भ्रमराष्टक जितना मधुर है, उतना उनका *एड्विन और अंजलेना* नहीं। आजकल भी जो कुछ वे लिखते हैं, ब्रजभाषा में ही उसका अधिक अंश होता है। उनके विरोधियों से इतनी सहायता मिलने पर भी बाबू साहब 'ख़ून लगाकर शहीद' बनने को तैयार थे, यदि वास्तव में उनका विरोध होता तो न मालूम वे अपने को सुकरात लगाते वा ईसा मसीह। काशी की सभा ने कभी उनका विरोध नहीं किया। जिस कविता पर उनका दंश था, वह बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की थी1, और सभा सदा से हिंदी साहित्य के इस अर्धांग पर विलाप करती आई है। अवश्य ही वह सूरदास और बिहारीदास की भाषा को धकेलकर उसकी जगह बाबू अयोध्याप्रसाद का Lions painted by themselves चित्र नहीं रख सकती। वास्तव में खड़ी बोली में अयोध्याप्रसाद और रामदास रायों की ज़रूरत नहीं है, जरूरत है सूरदासों और तुलसीदासों की। कृष्ण-भक्ति के कारण, प्राचीन वैष्णव ग्रंथों के कारण, कथाभट्टों, रासधारियों और पुराने पंडितों के कारण ब्रजभाषा की *ताके धिपे* अभी तक महाराष्ट्र देशों तक गूंजती है। कोई सूरदास का-सा गारूड़ी आवे, जो खड़ी बोली की अकड़ी नसों और हड्डियों में मोहिनी फूंककर देश भर को मस्त कर दे। काल-निर्णय के पीरियडों पर लड़ना, सबको अपना शत्रु मानकर चलना और बिहारियों को ही हिंदी का एकमात्र अधिकारी मानना उचित नहीं। पद्य की भाषा गद्य की तरह से सदा अक्खड़ नहीं हो सकती; उसमें एक प्रकार की लोच—

1. बाबू साहब का इशारा बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर की इस कविता पर है—

पै अब केते भये हाय इमि सत्यानासी,
कवि और जांचक रस अनुभवसों दोऊ उदासी।
शब्द अर्थ को ज्ञान न कछु राखत उर माहीं,
शक्ति निपुनता औ अभ्यास लेसहू नाहीं।
विन प्रतिभा के लिखत तथा जांचल विवेक बिन,
अहंकार सों भरे फिरत फूले जित निशिदिन।
जोरि बटोरि कोउ साहित्य ग्रंथ निर्माने,
अर्थ शून्य कहुं कहूं विरोधी लक्षन ठानै।
जानतहूं नंहि कहा अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असंभव,
बनि बैठत साहित्यकार, आचार्य स्वयं भव।
जात खड़ी बोली पै कोउ भयो दिवानो,
कोउ तुकांत बिन पद्य लिखन में है अरूझानो।
अनुप्रास प्रतिबंध कठिन जिनके उर मांहि,
त्यागि पद्यप्रतिबंधहु लिखत गद्य क्यों नाहीं?
अनुप्रास कबहूं न सुकवि की शक्ति घटावैं,
वरु सच पूछो तो नव सूझ हिये उपजावैं।
ब्रजभाषा औ अनुप्रास जिन लेखें फीकें,
मांगहिं विधना सों ते श्रवन मानुषी नीके।

वा मुड़ने की ताक़त सदा चाहिए। अंग्रेज़ी में भी साधारण भाषा में लोच आने से saxon बंद हुई, कोरे आंदोलनों से नहीं। यह लोच ब्रजभाषा में ज़्यादा है, खड़ी बोली में कम। ब्रजभाषा वाले आग को 'आगी' वा 'आगु' करते हैं, खड़ी बोली वालों ने 'आगी' बनाया है। बैसवारी वाले 'जहां' को 'जहं' करते थे, बिहार वाले 'जहवां तहवां' (ओह!) करते हैं। मोड़ने-तोड़ने में कमी नहीं है। अवश्य पंडित राधाकृष्ण मिश्र की संस्कृत प्रायः खड़ी बोली बहुत अच्छी खिलती है, परंतु यह बाबू साहब के प्यारे मुंशी स्टाइल से दूर है। और फिर क्या *फद फद फद फद प्यारी बोले चढ़ी चूल्ह* पर *दाल-प्यारी चमगुदड़ी-अधेले की बूटी मिरच दमड़ी की लय लई*—इनसे कभी साहित्य चमका है? जितना जोश और जान, मरी ब्रजभाषा में बाबू राधाकृष्णदास के बनाए *भारत बारहमासा* और *प्रताप विसर्जन* में है, उसकी एक कला भी एक इन *प्यारी चमगुदड़ी* कविताओं—पंडित श्रीधर पाठक की कविता को हम पृथक् किए देते हैं—में मिल सकती है? जिस दिन किसी सुकवि की शक्ति में खड़ी बोली भी सरस हो जाएगी, उस दिन ब्रजभाषा चुप रह जाएगी। दोनों भाषाओं को कविता के लिए लड़ने दें। जीवन के संग्राम होते-होते Survival of the fittest सत्तम का अवशेष हो जाएगा। डायरियों और आंदोलनों के छपने और ख़ून लगाकर शहीद बनने से यह काम न होगा, यह होगा, नए कवियों के जन्मने से। ब्रजभाषा से यों पिंड नहीं छूट सकता। कोई यह न जाने कि मैं खड़ी बोली की कविता का विरोधी हूं, मैं उसका समर्थक ही नहीं, परंतु लीक पीटनेवाले ब्रजभाषा कवियों का निंदक भी हूं। बाबू अयोध्याप्रसाद के यत्न-उद्योग, परिश्रम, व्यय, अध्यवसाय और हिंदी की प्रीति, सहायता की स्तुति करता हुआ भी मैं उन्हें *त्वमर्कस्त्वं सोमः* नहीं कह सकता, और न बिहारियों का उन्हें 'ख़ून लगाकर शहीद' बनाना देख सकता हूं। मेरा विचार था कि ये सब बातें बाबू अयोध्याप्रसाद से कहूं, परंतु हा! वह परोपकारी और हिंदी भाषा के हितचिंतन का व्रती मनुष्य अब लोक में नहीं है। चाहे उनके प्रकारों से लोगों का विरोध रहा हो, परंतु वर्तमान युग में बिहार में क्या, हिंदी भाषा के देश-भर में, ऐसा तीव्र किंतु सत्समालोचक और उदार देशसेवक विरला ही मिलेगा। उन्होंने जो कुछ किया, उसमें हिंदी की हितकामना भरी हुई थी। लोगों ने उन्हें गालियां दीं, चिढ़ाया, सिड़ी समझा; उन्होंने भी छोटी-छोटी बातों पर नुक़्ताचीनी की, बिना काम का द्वेष समझा, अपने को सताया और ईज़ा पहुंचाया गया समझा, परंतु ऐसी बातें सदा होती आई हैं। आशा है कि उनकी आत्मा अब अपने किए हुए भले कामों के फल में अनंत शांति भोगती होगी। जिन लोगों ने बेसमझे-बूझे या अपने स्वार्थ के लिए उनकी निंदा व उनसे विरोध किया होगा, वे अब इस लेख के ऊपर लिखे भवभूति के वाक्य को पढ़ते होंगे।

[*प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त, 1905 ई.*]

हिंदी के वरिष्ठ आलोचक, 'प्रगतिशील वसुधा' के संपादक और प्रलेस के महासचिव डॉ. कमला प्रसाद का अप्रत्याशित और असामयिक निधन, एम्स नई दिल्ली में 25 मार्च को कैंसर के कारण हुआ। उत्तर छायावाद के महत्त्वपूर्ण कवि आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री भी 7 अप्रैल को हमसे बिछुड़ गए। उन्हें हमारी हार्दिक श्रद्धांजलियां।

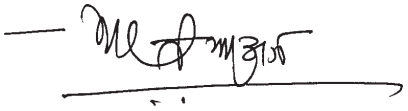

कहां है अब बुद्ध?

अर्पण कुमार

एकाधिक विधाओं में सक्रिय नीरजा माधव के नवीनतम उपन्यास 'ईहामृग' में आधुनिक सारनाथ की समकालीन विसंगतियों को उसकी प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता के बरक्स रखकर कथा-विकास के लिए ज़रूरी न सिर्फ एक रचनात्मक द्वंद्व पैदा किया गया है, बल्कि इसके बहाने बढ़ते धार्मिक आडंबर और संकीर्णताओं (कट्टरताओं) के बीच निरंतर अलभ्य होती जाती आत्मिक शांति को 'ईहामृग' के रूपक में व्यंजित भी किया गया है। उल्लेखनीय है कि 'ईहामृग' रूपक (नाटक) का एक भेद है, जिसमें चार अंक होते हैं, जिन्हें बुद्ध के चार आर्यसत्यों के साथ जोड़कर देखा जा सकता है—दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध एवं दुःख निरोध-मार्ग। स्पष्टतः दुःख से मुक्ति के लिए बुद्ध तृष्णा से अनासक्त होने की बात करते हैं।

'ईहामृग' नीरजा माधव के उपन्यासकार की एक छलांग कही जा सकती है, जो गौतम बुद्ध की आत्मा का विदेशी (अमेरिकी) भिक्खु एम.अलभ्यानंद के चित्त-चेतना में प्रवेश कराकर वह एक ऐसी (काल्पनिक) कथा-युक्ति रचती हैं, जिसमें बुद्ध, अलभ्यानंद की आंखों से आधुनिक सारनाथ को देखते हुए उसे अपने तात्कालिक सारनाथ के बरक्स रख दोनों के बीच का समुचित अंतर कर पाते हैं और अंततः उन्हें अपने ऋषिपत्तन के वर्तमान रूप से मोहभंग ही होता है। तथागत के एम. अलभ्यानंद ('अलभ्यानंद' नाम भी सोद्देश्य है) के शरीर में प्रविष्ट करने और अंततः उससे निकल बाहर आने के इस संक्षिप्त प्रसंग-द्वय के बीच सारनाथ और उसके आसपास के घटित को उपन्यास का कथानक बनाते हुए नीरजा इतिहास और वर्तमान, धर्म और राजनीति, अमीरी और गरीबी, शांति और अशांति, आस्था और आडम्बर, न्याय और भ्रष्टाचार, सुख और दुःख आदि कई 'बाइनरी अपोजिट्स' (binary opposites) का द्वैत रचती चलती है।

कुल अठारह अध्यायों में विभाजित इस उपन्यास में धर्म के आंतरिक और बाह्य पक्षों के विश्लेषण के बहाने आस्तिकता और नास्तिकता की, कुछ मतभेदों के बावजूद सनातन और बौद्ध धर्म की पारस्परिकता की यथाप्रसंग चर्चा होती रही है। अपने दांपत्य जीवन के बिखराव से अशांत मि. माडवेल बौद्ध धर्म में दीक्षित हो एम.अलभ्यानंद बनते हैं, वहीं उनकी बेटी सेरेना मॉडवेल 'हिंदू धर्म में कर्मकाण्ड' पर शोध-कार्य कर रही हैं। भारतीयता के रंग में रंगी अब वह एम.गौरी बन चुकी है। दोनों सारनाथ में प्रतापसिंह रघुवंशी के गेस्ट हाउस में साथ ही रहते हैं। सारनाथ के एक कार्यक्रम में दोनों की भेंट डॉ. मधुसूदन से होती है, जो क्रमशः घनिष्ठता में बदलती चली जाती है, विशेषकर गौरी और मधुसूदन के बीच जिस तरह का एक रागात्मक संबंध पनपता है, वह अपने झीने आवरण में कुछ अधिक स्वाभाविक और आकर्षक बनकर उभरा है। उल्लेखनीय है कि अपनी मां 'जेनी' (जो अब मि. अल्फ्रेड से शादी कर जेनी अल्फ्रेड बन गई है और उसके बच्चे की मां बनने वाली है) की उन्मुक्तता और निर्द्वंद्व भौतिकतापरस्ती के विपरीत गौरी के चरित्र में एक सौम्यता और स्थिरता है, जिसमें कहीं-न-कहीं भारतीय संस्कार और संस्कृति का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। अपने माता-पिता के तनावपूर्ण और अंततः विगलित दांपत्य-संबंधों को करीब से देख चुकी और दोनों के संयुक्त और सौहार्दपूर्ण स्नेह को टुकड़ों में ही हासिल करती सेरेना गौरी बन और भारतीय परिवेश में रच-ढल कर ही एक उदात्त, सहिष्णु और करुणाशील व्यक्तित्व को प्राप्त करती है। अमेरिका में अकेले और अशांत रह रहे अपने पिता को वह भारत बुलाने की पहल करती है तो दूसरी तरफ किसी और के साथ घर बसा चुकी अपनी मां के साथ संबंधों की पुरानी उष्मा को यथासंभव बरकरार रखती हुई अपने संतुलित व्यक्तित्व का ही परिचय देती है। गौरी के डायरी लेखन से उसके अंतर्मन में झांकने का मौका तो मिलता ही है, साथ ही कहानी भी आगे बढ़ती है। किशोर नौकरानी 'फुलझड़ी' के साथ उसका मित्रवत् व्यवहार रखना एवं उसके साथ मेला घूमने के क्रम में स्वयं भी एक बच्ची की तरह हर्षित/पुलकित होना गौरी के अकृत्रिम और सहज मानवोचित व्यवहार की ही एक झलक देता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि अलभ्यानंद, ग़ौरी और मधुसूदन के पारस्परिक संवादों में दर्शन, धर्म और जीवन के कई अंतर्सूत्र गुंथे पड़े हैं। प्रताप सिंह रघुवंशी में एक अवसरवादी संगठनकर्ता एवं सामाजिक कार्यकर्ता का रूप मुखर है, जो पैसों की खातिर, समाज में अशांति फैलाकर वोट मांगनेवाले नेताओं की चाटुकारिता करता है और धार्मिक संस्थाओं के नाम पर स्कूल चलानेवालों का फायदा भी लेना चाहता है; गरीब/बेसहारा बच्चों की

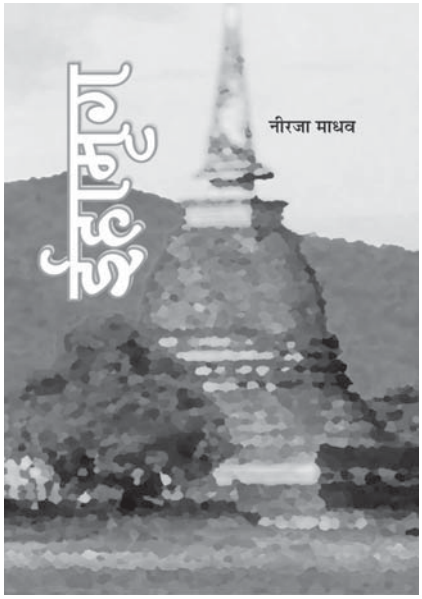

शिक्षा के नाम पर आनेवाली देशी-विदेशी सहायता-राशि हड़पने के प्रयत्न में रहता है और अपने घर को ही गेस्ट-हाउस में बदलकर एक पर्यटन-स्थल में अपने निवास का भरपूर व्यावसायिक दोहन भी करता है। फुलझड़ी के ऊपर कुदृष्टि रखनेवाला 'हंसू' अंततः एक दिन मौका पाकर उसका बलात्कार करता है। दबी-सहमी फुलझड़ी किसी को कुछ बताने की बजाय खुद को जलाकर मार डालने का असफल प्रयास करती है। अपराधी हंसू दारोगा की चाकरी करता हुआ निर्द्वंद्व घूमता रहता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि 'घुरहूपूर' जैसे गांवों की ऐसी कितनी फुलझड़ियां बाल-श्रमिक के रूप में दर-दर की ठोकर खातीं अपने शराबी-जुआरी पिताओं को पालती हैं और अपने साथ होते यौन-शोषण को घुट-घुटकर चुपचाप बर्दाश्त करती हैं या फिर स्वयं को नष्ट कर लेती हैं। फुलझड़ी और उसकी मां के दैनंदिन संघर्ष में गरीब बस्तियों के भीतर का बाल एवं स्त्री विमर्श इस उपन्यास में घोर यथार्थजन्य रूप में उपस्थित है, जहां इनका संघर्ष दुहरा-तिहरा हो उठता है। अपने निकम्मे, निठल्ले पिताओं/पतियों की हेकड़ी और मारपीट बर्दाश्त करना, उनके दुर्व्यसनों के पीछे अपनी गाढ़ी कमाई होम कर देना, किसी तरह परिवार का भरण-पोषण करना, अपने ही गांव-घर में असुरक्षित जीवन जीना और जाने क्या-क्या। एक अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व के स्थान की विसंगतियों को उठाते हुए उसके समीपवर्ती 'घुरहूपुर' जैसी बस्तियों की नारकीय स्थिति को यूं जीवंत करना एवं दोनों के बीच की आवाजाही को कुशलतापूर्वक अपनी कथा में संयोजित कर लेना नीरजा के उपन्यासकार की एक सफलता ही मानी जाएगी। सारनाथ एवं उसके आसपास के परिवेश का यहां जिस बेबाकी एवं बारीकी से पोस्टमार्टम किया गया है, वह अपने तईं इस उपन्यास को विशिष्ट बनाता है। भाषा भी प्रसंगानुकूल बन पड़ी है।

ईहामृग / नीरजा माधव / भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-3/ मूल्य : ₹ 180

सहायक निदेशक (राजभाषा) मुख्य आयकर आयुक्त कार्यालय, नवदीप बिल्डिंग, आश्रम रोड, अहमदाबाद-380014, मो. 0851100971

उपन्यास

वायवीय प्रेम की कठोर पृष्ठभूमि

सरिता शर्मा

'प्यार में व्यापार का सौदा न कीजिए, क्या फायदा नुकसान है सोचा न कीजिए।' उदय प्रताप सिंह ने विशुद्ध प्रेम की कल्पना की है। विमल कुमार के उपन्यास 'चांद@आसमान डॉट कॉम' में प्यार को सभी परेशानियों, नाकामियों और बंधनों से मुक्ति का मार्ग माना गया है। ''मेरे लिए प्रेम एक लालटेन है, जिसे अंधेरा होते ही मैं जला लेना चाहता हूं।'' यह पुस्तक एक कवि की कथाकृति है और प्रेम की पड़ताल एक कवि की दृष्टि से की गई है। चांद को संबोधित करते हुए अनेक चिट्ठियां लिखी गई हैं, जो नायक की प्रेमिका सुगंधा का प्रतीक है। उपन्यास में दी गई कविताएं अलग-अलग विषयों पर लेखक की मनोदशा को दिखाती हैं।

उपन्यास की कहानी पति, पत्नी और वो की तर्ज पर नायक मिहिर, उसकी पत्नी नंदिता और प्रेमिका सुगंधा के इर्दगिर्द घूमती है। दरअसल सुगंधा को प्रेमिका भी पूरी तरह नहीं कहा जा सकता है। मिहिर उसे जी-जान से प्रेम करता है, मगर वह कभी साफ शब्दों में नहीं बताती कि वह भी उसे चाहती है। एक दृश्य के सिवाय, जिसमें मिहिर और सुगंधा नदी तट पर एक-दूसरे के निकट आए थे। व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने पर यह प्रसंग काल्पनिक ही लगता है। नायक अपनी पत्नी के प्रति समर्पित है और समाज के कायदे-कानून मानता है। वह अपने प्रेम का इजहार कभी कविता के माध्यम से, कभी डायरी और कविताएं लिख कर करता है। पत्नी को वह अपनी भावनात्मक यात्रा का सहभागी बनाता है और सुगंधा के प्रति आसक्त होने के बावजूद वह पत्नी को छोड़ना नहीं चाहता है। घटनाक्रम के विकास के बिना चिंतन इतना अधिक हो गया है कि प्रेम एकतरफा कल्पित प्रेम लगता है। अंतर्विरोधों के जाल में फंसे नायक की छटपटाहट को अभिव्यक्त करने वाला यह उपन्यास कई अर्थों में अनूठा है। प्रेम को काव्यात्मक शैली में उजागर करते हुए भी लेखक अपने समय की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं से बेखबर नहीं है। वह पेशे से पत्रकार है, जिसे अपने विचार प्रकट करने की आजादी नहीं है। मंदी के दौर में नौकरी जाने का खतरा बना रहता है। लेखन और प्रेम के जरिये वह कटु यथार्थ का सामना करना चाहता है।

साहित्य के प्रेम त्रिकोण ने महान कृतियों को जन्म दिया है। एन्ना केरेनिना, मैदम बोवारी, देवदास, लेडी चेटर्लीज लवर, चित्रलेखा

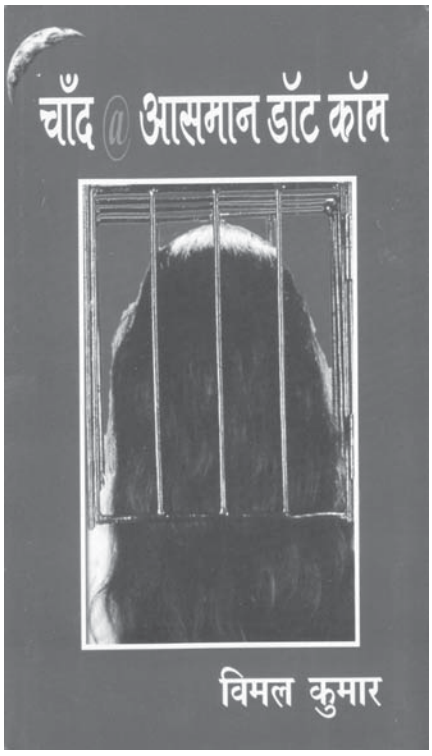

चितकोबरा जैसे हजारों उपन्यास, नाटक और कविताएं इस विषयवस्तु पर लिखे गए हैं। भारत में अब विवाह संस्था चरमराने लगी है। विवाहेतर संबंधों और लिव-इन-रिलेशंस की संख्या बढ़ती जा रही है। समलैंगिक संबंधों को भी वैधता मिल चुकी है। स्कूली दिनों से ही वेलेटाइन डे मनाने वाली गर्लफ्रेंड-ब्वायफ्रेंड वाली किशोर पीढ़ी बहुत आगे बढ़ चुकी है। इंटरनेट की तमाम सोशल नेटवर्किंग साइटों और मोबाइल से संपर्क की सुविधा के कारण चिट्ठियां लिखने की परंपरा खत्म होने लगी है।

'चांद@आसमान डॉट कॉम' की शुरुआत ही चांद के नाम चिट्ठी लिखने से होती है, जिसमें मिहिर अपनी तरफ से बेखबर चांद को उलाहना देता है। नायक की मनोदशा को दर्शाने वाली दर्जन भर कविताएं और काव्यात्मक शैली इस उपन्यास को ताजगी और मौलिकता देती है। पाठक अपने रूमानी क्षणों को इसे पढ़ते हुए जीता है। पति, पत्नी और प्रेमिका संबंध में भी सामाजिक मर्यादा को ध्यान में रखा गया है। विधवा प्रेमिका और पत्रकार प्रेमी के बीच संबंध को 'प्लैटोनिक' ही रखा गया है। त्रासदीपूर्ण स्थिति यह है कि न तो मिहिर को उसकी पत्नी ठीक से समझ पाती है, न सुगंधा ही। 'किसे पेश करूं' वाली उहापोह में वह चांद को ही अपनी उथल-पुथल का भागीदार बनाता है जैसे एक कहानी में कोचवान बेटे की मौत पर अपने घोड़े को ही व्यथा-कथा सुनाता है।

उपन्यास में लेखक नायक के जीवन और उसकी सोच पर विस्तार से लिखता है, मगर नंदिता और सुगंधा के चरित्र उतने विकसित नहीं हो पाते। उनकी खूबियां दिखाने के बावजूद अंत में दोनों को प्रेक्टिकल साबित कर दिया गया है। जो नंदिता अच्छी मित्र बनकर मिहिर के सुख-दुःख बांटती है, सुगंधा के साथ मिहिर की दोस्ती को आशंका के बावजूद स्वीकार करती है, वही उपन्यास के अंत में पुराने प्रेमी से मिलने इस उम्मीद में चली जाती है कि वह मिहिर को छोड़ सके। सुगंधा मिहिर के प्यार को लेकर आश्वस्त नहीं है। वह मिहिर से संपर्क तोड़कर हैदराबाद में प्रशांत के साथ रहने लगती है। फिर भी मिहिर से अपेक्षा करती है कि वह अपनी पत्नी को तलाक दे कर उसे और उसके बच्चों को संभाले।

रात-दिन चलने वाले न्यूज चैनलों से अखबार पर स्पर्धा का दबाव बढ़ गया है। संसदीय सौध के डाइनिंग हॉल के बाहर सांसदों और मंत्रियों की प्रतीक्षा में खड़े पत्रकार उनके बाहर निकलते ही प्रश्न पूछने लगते हैं। उनमें से ज्यादातर राजनीतिज्ञों से निराशा ही हाथ लगती है, जब वे बिना उत्तर दिए फटाफट खिसक लेते हैं। इक्का-दुक्का सांसद कुछ बताता भी है तो बड़े हल्के ढंग से। यह दृश्य पत्रकारों के धैर्य, कठोर जीवन और बेबसी को प्रकट करता है। दिन भर इंतजार के बाद काम न मिलने वाले मजदूर, भीख न मिलने वाले भिखारी और बेमौसम बरसात से खड़ी फसल बरबाद हो जाने वाले किसान जैसी निराशा उन पत्रकारों को झेलनी पड़ती है। मिहिर अवसाद का शिकार हो जाता है। 'इस देश का क्या होगा? यह पत्रकारिता कहां तक जाएगी? चारों तरफ इतनी भीड़, इतनी भागदौड़, इतनी छीना-झपटी, इतनी मार-काट। आगे बढ़ने और चीजों को बटोरने की होड़ है।' मिहिर शिक्षा में निजीकरण के खिलाफ है, मगर बॉस उसे शैक्षिक संस्थानों के निजीकरण की खबरें लाने को कहता है। मीडिया आम आदमी की बड़ी समस्याओं को नजरअंदाज कर देता है और हाईक्लास के अपराधों को बहुत तूल देता है। 'मीडिया भी ताकतवर लोगों के साथ खड़ा है। जैसे पार्लियामेंट का डीजेनरेशन हुआ है, वैसे ही मीडिया का।' मिहिर देश की राजनीति में सौदेबाजी को देखकर खिन्न है। राज्यपाल तक सेक्स स्कैंडल में फंसा हुआ है। 'मिहिर को लगने लगा था कि यह लोकतंत्र एक तमाशा है, क्रूर मजाक, लेकिन इस लोकतंत्र का गुणगान हो रहा था।' अनेक जुलूसों और प्रदर्शनों के बावजूद देश के हालात नहीं बदलते। 'किसानों की आत्महत्या से लेकर भ्रष्टाचार और कमर तोड़ महंगाई। नक्सलवाद की बढ़ती समस्या। बलात्कार, आत्महत्या, हिंसा, उग्रवाद!' जिदंगी यंत्रवत होती जा रही है।

मिहिर एक संवेदनशील और जागरूक पत्रकार है। वह सुगंधा का दुख बांटना चाहता है। वह जानता है 'आज प्रेम की कोई जगह नहीं है, वह अर्थहीन हो चुका, उसकी कोई कीमत नहीं है।' मगर वह प्रोफेशनल रिश्ते की जगह इमोशनल रिश्ता कायम करना चाहता है। विमल कुमार का मानना है 'कविता एक ऐसी शरणस्थली रही है, जो तनावरहित करती है, गहरा सुकून देती है। प्रेम भी यही काम करता है। मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए कविता सर्वोत्तम है, जिसमें घटना और अनेक पात्रों के बिना काम चल जाता है, मगर उपन्यास में आंतरिक उथल-पुथल के पीछे जीते-जागते क्रियाशील पात्रों और उनके अंतर्संबंधों को घटनाक्रम के माध्यम से ही उजागर किया जाता है। यथार्थ को विशेष दृष्टि से दिखा सकते हैं, मगर प्रेम की कल्पना मात्र पर्याप्त नहीं है।

छह अध्यायों में बंटे इस उपन्यास में साठ उपशीर्षकों के अंतर्गत कहानी आगे बढ़ती है। आधे पृष्ठ के मनोभावों और छोटी-छोटी बातों के लिए अलग उपशीर्षक देना अनावश्यक लगता है। डायरी, कविता, चिट्ठी और मूड पीसिज का इस्तेमाल करके यथार्थ और परिकल्पित प्रेम के बीच तालमेल बिठाने का प्रयास किया गया है। लेखक प्रेम की असफलता को रचना की उर्वर भूमि मानता है। 'अगर प्रेम हुआ होता तो शायद लिख नहीं पाता। प्रेम की खोज में ही लिखता रहा हूं।' शैली पठनीय और काव्यात्मक है। विन्सेंट वान वॉग की जीवनी 'लस्ट फॉर लाइफ' में लिखा है 'दुनिया में काम करने के लिए आदमी को अपने ही भीतर मरना पड़ता है। आदमी इस दुनिया में सिर्फ खुश होने नहीं आया है? वह ऐसे ही ईमानदार बनने भी नहीं आया है। वह पूरी मानवता के लिए महान चीजें बनाने के लिए आया है। वह उदारता प्राप्त करने आया है। वह उस बेहूदगी को पार करने को आया है, जिसमें ज्यादातर लोगों का अस्तित्व घिसटता रहता है।' विमल कुमार ने भी उपन्यास में आज के समय में राजनीति, मीडिया और समाज की विद्रूपताओं पर नजर डाली है और प्रेम को मुक्ति की राह माना है। यह प्रथम उपन्यास उम्मीद जगाता है कि वह अगली पुस्तक में और अधिक धारदार और बेबाक अंदाज में लिखेंगे।

चांद@आसमान डॉट कॉम/विमल कुमार/वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 250

1975, सेक्टर-4, अर्बन एस्टेट, गुड़गांव-122001 (हरियाणा), मो. 9871948430

मानवीय अपील की कहानियां

राजीव कुमार

कोई भी रचना अपने समय के दबाव से मुक्त नहीं हो सकती है। प्रथमतः इसे स्वीकार कर लेने के बाद आज के साहित्य के संदर्भ में विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि सामाजिक-आर्थिक स्तर पर आमजन के लिए उत्तरोतर प्रतिकूल होती परिस्थिति ने हमारे साहित्य पर ऐसा दबाव बनाया है कि सत्ता के विभिन्न रूपों की आवेशपूर्ण आलोचना में इसकी भूमिका प्रशंसनीय है। इन अभिव्यक्तियों में पक्षधरता है, प्रतिरोध है और पोलिटकली करेक्ट होने का दबाव एवं आग्रह भी, परंतु इन सबके साथ यह भी हुआ है कि 'कठिन समय' की मुखर अभिव्यक्ति के क्रम में भावनात्मकता का स्थान क्षीण हुआ है। हिंदी कहानी में भी कमोबेश यही स्थिति है। राजी सेठ की कहानियां एक तरह से इस अभाव की पूर्ति हैं। उनकी कहानियां तस्वीर का पूरक रुख है, जहां इन मुद्दों से पलायन नहीं है, बल्कि ये कहानियां कहीं भावनात्मक संप्रेषणीयता के लिहाज से लिखी गई हैं। राजी सेठ के इस कहानी संग्रह—'यहीं तक' की कहानियों में अगर मुद्दे हैं तो भावना एवं वृत्ति भी। सत्ताजनित वंचना एवं अवरोधों की कौंध है तो व्यक्ति का आंतरिक कपट भी। ये कहानियां इस मायने में भी महत्त्वपूर्ण हैं कि समकालीन महिला लेखन का बहुलांश, जो कि विमर्श केंद्रित है, राजी सेठ इस हदबंदी को विस्तृत करते हुए उसे व्यापकता देती हैं। उनकी कहानियों में पुरुष सत्ता की आक्रमकता एवं स्त्री के प्रश्न हैं ('स्त्री') है, तो पारिवारिकता में आते ह्रास की व्यथा भी ('योग-दीक्षा', 'विकल्प', 'यहीं तक', 'किस्सा बाबू बृजेश्वर जी का' आदि)। सामाजिक परस्परता के चूकने की पीड़ा है ('नगर-रसायन', 'एक कटा हुआ कमरा'), तो आभिजात्य आडंबर एवं दोहरेपन का उद्घाटन भी ('आमने-सामने', 'गधों से घोड़े', 'कब तक')। वर्जना, वंचना, यथास्थिति एवं सामाजिक विद्रूपता का प्रतिरोध है ('यात्रा मुक्त') तो आर्थिक परिप्रेक्ष्य में पतन की विडंबनात्मक स्थिति भी ('तुम भी')। और यह सब एक मानवीय अपील के साथ है। न्यूनतम लेखकीय हस्तक्षेप के साथ लिखी गई ये कहानियां हमारी संवेदना को कहीं गहरे तक स्पर्श करती हैं।

'यहीं तक' शीर्षक कहानी पारिवारिक अलगाव की विडंबना की विद्रूप स्थिति को सामने लाती है, जहां आर्थिक अभाव एवं निजी संकुचन के कारण पिता एवं पुत्र के मध्य टकराव की स्थिति है। बेटा कुछ भी कदम उठाता है तो पिता को उससे अवगत नहीं कराता है। उसका तर्क है, 'कहने-सुनने का सिस्टम इस घर में है कहां। सबके अपने-अपने गढ़ हैं।' इस गढ़ की नींव में आर्थिक अकिंचनता है, जो पिता को संकुचित करती है। दूसरी ओर आधुनिक सभ्यता द्वारा प्रदत दंश है—सुख-सुविधा की चीजें हैं, जो लड़के को उद्वेलित करता है कि हमारे पास यह सब क्यों नहीं है। वह पिता की हैसियत के प्रति संवेदनशील नहीं रह पाता। 'योग-दीक्षा' एक ओर हमारी संवेदना के सूखते जाने की पीड़ा बयां करती है तो वहीं यह कहानी कामकाजी स्त्रियों की पीड़ा को भी व्यक्त करती है। कहानी में 'वह' योग शिक्षिका है। घर-घर जाकर महिलाओं को योग सिखलाती है। सुबह के पांच-छः घंटे भूखे रहकर, आभिजात्य आडंबर एवं अपमान झेलना पड़ता है। श्रीमती अग्रवाल जैसी महिला के बीच भी, जो रुपये का तेवर दिखाने एवं अपमानित करने का कोई मौका नहीं छोड़ती है, 'एक ही जगह पर बिठाती हैं, एक से तेवर से बात करती हैं, एक ही गिलास में रोज पानी देती हैं, चाहे वह उसे कभी न भी पीती हो।' इतने के बावजूद वह अपने घर में भी उपेक्षित होती जा रही है। वह लंबे समय तक बीमार रही है। भयंकर कष्ट सहकर घर के लिए उपार्जन करती है, पर मां उसके खाने का भी ख्याल नहीं रखती। रूखा-सूखा दे देती है। उसकी स्थिति के प्रति जैसे विरक्त है। छोटी बहनों के लिए उससे कुछ जोड़ने को कहती है, पर उसकी कोई फिक्र नहीं है।

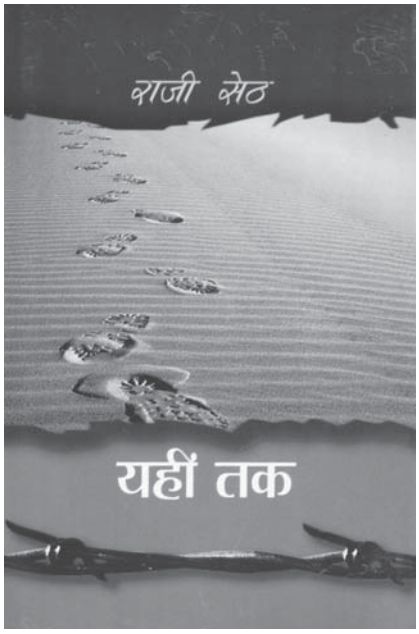

'विकल्प' में पारिवारिक टकराव का क्रूर चेहरा है, जिसके पीछे पुरुष का अहंकार है। कहानी में पति-पत्नी अश्विनी-नीलिमा के विचारों में साम्य नहीं है। शादी के बाद दोनों अमरीका में रहते हैं एवं इस समय भारत आए हुए हैं। नीलिमा को जहां अपनी जड़ों से लगाव है, अश्विनी के मन में इसके प्रति

हेय-भाव। वह यहां की विपन्नता को बार-बार उघाड़ता है। जब पूरा परिवार बाहर घूमने जाता है तो अश्विनी यहां की सुंदरता की बजाय गंदगी, जहालत एवं झुग्गी की तस्वीर लेने लगता है। उसमें स्लम टूरिस्ट वाली मानसिकता है और साथ ही पुरुषवादी अहंकार भी। यह कहानी ऐसे व्यक्ति के आंतरिक स्याह पक्ष को सामने लाती है, जिसमें किसी किस्म की संवेदना नहीं। सिर्फ अपना अहं, दूसरों को चोट पहुंचाना उसे तुष्ट करता है। 'किस्सर बाबू बृजेश्वरजी का' शीर्षक कहानी उषा प्रियंवदा की कहानी वापसी की याद दिलाती है। कहानी में नौकरी से बाहर हो गए बृजेश्वरजी घर में भी फालतू बन जाते हैं। अंततः वे नौकरी की बात कर सारा दिन पार्क में गुजारते हैं।

राजी सेठ की कहानियों में पारिवारिक विडंबना के विविध रूप हैं। इस संग्रह में परिवार के वरिष्ठ सदस्य के अकेलेपन एवं बेचारगी को मार्मिकता के साथ व्यक्त किया गया है। शहर केंद्रित विकास ने विस्थापन की ऐसी नियति को सिरजा एवं परिवार में टूटन पैदा की, जिससे कि परिवार के वरिष्ठ सदस्य पीछे छूटते चले गए, विकास के इस पैटर्न के आगे बढ़ने के साथ यह समस्या घनीभूत होती गई। इस संग्रह में 'इन दिनों' शीर्षक कहानी में इसी पीड़ा की अभिव्यक्ति है। पहले से चली आ रही इस समस्या में एक और दुःखद स्थिति जुड़ गई है, वह है वृद्धों के सामने दरपेश दहशत। कहानी में अपनी संतानों से दूर रह रहे वृद्ध दहशत में हैं। यह कहानी उपभोक्तावाद एवं संवेदनहीनता के नए परिप्रेक्ष्य को सामने लाती है। बच्चे अपने पिता के लिए साहचर्य की जरूरत को नहीं समझते। वे इस कमी को उपहारों से पूरा करना चाहते हैं। भावना की बजाय वस्तु की प्रतिष्ठा, यह ऐसा विद्रूप सत्य है, जो फैलता ही जा रहा है।

राजी सेठ की कहानियों में पारिवारिकता-सामाजिकता के ह्रास की पीड़ा है तो व्यक्ति के दोहरेपन एवं सामाजिक आडंबर का प्रतिकार भी है। इस प्रक्रिया में आभिजात्य दोहरेपन को सामने लाती हैं एवं वंचित समुदाय के प्रति अपनी पक्षधरता को भी। 'गधों से घोड़े' शीर्षक कहानी में समाज सेवा के स्वांग को बेनकाब किया गया है। कहानी में सरिता सक्सेना, जो कि महिला मंडल की सेक्रेटरी है एवं बाद में अध्यक्ष बनती हैं, वह वंचितों के कल्याण का दिखावा करती है। दीनू उनके यहां पढ़ने की ललक के साथ आता है, पर उसे वे अपना घरेलू नौकर बना डालती हैं। दीनू जब दी गई कॉपी में कुछ ही दिनों में पूरा लिख डालता है तो बिफर उठती हैं कि कौन तुम्हारा खर्च उठाएगा? वे फिर स्लेट पर लिखने का निर्देश देती हैं। उसमें भी उसे राहत नहीं है, वह हर वक्त काम में फंसा रहता है। अंततः वह किताब-कॉपी सरिता सक्सेना के पास वापस फेंककर अपना रोष प्रकट करता है। आभिजात्य आडम्बर एवं गरीबों के शोषण की यह प्रक्रिया तथा वंचित वर्ग के लोगों की आत्मचेतना एवं प्रतिरोध 'आमने-सामने' एवं 'कब तक' शीर्षक कहानियों में भी है। 'यात्रा-मुक्त' शीर्षक कहानी में यह प्रतिरोध निर्णायक रूप ले लेता है।

'यात्रा-मुक्त' इस संग्रह की महत्त्वपूर्ण कहानी है। यह कहानी एक ओर सामंती संस्कृति का प्रतिरोध एवं युवा चेतना की अभिव्यक्ति है, वहीं संबंधों की गरिमा एवं जिम्मेवारी के निर्वाह जैसा सकारात्मक पहलू भी है। कहानी में किशन के पिता एक हवेली में चाकर हैं। मां की मृत्यु के बाद किशन भी वहां आ जाता है। जहीन किशन हवेली के चिराग तरुण बाबू से पढ़ने में तेज है। हर अभाव के बावजूद किशन फर्स्ट आता है, तरुण बाबू फेल। तरुण बाबू के सामंती दंभ को इससे चोट लगती है। वह किशन को अपमानित करता रहता है। सामंती दंश को स्वीकार कर चुका पिता इसे नियति मानकर स्वीकार कर लेना चाहता है, परंतु किशन ऐसा करने से इंकार कर देता है। वह हवेली की मालकिन के झांसे में आने को तैयार नहीं है, जो थोड़ा-बहुत स्नेह दर्शाती है। किशन इसके पीछे की वास्तविकता को समझता है और वह है हवेली की देखभाल। कहानी में सकारात्मक स्थिति यह है कि किशन अपने विरोध के बीच पिता को नहीं छोड़ता। उसके बीमार होने पर देखभाल करता है और अंततः उसे भी अपने साथ ले जाने का निर्णय सुनाता है। यह कहानी जड़ता के विरुद्ध नवीन चेतना को सामने लाती है।

इस संग्रह की एक और महत्त्वपूर्ण कहानी 'तुम भी...?' है। यह कहानी आर्थिक वंचना एवं सामाजिक व्यवहार के दबाव के परिप्रेक्ष्य में नैतिक पतन को सामने लाती है। कहानी में एक लाला के यहां क्लर्क अमर लाला के गोदाम से अनाज चुराता है। उसकी पत्नी सरना उसके इस कृत्य पर लानत-मलामत करती रहती है। बाद में जब अमर बेटी की शादी में कुछ देना नहीं चाहता तो सरना अपने रुख से पलट जाती है और अमर से कहती है कि एक-दो बोरी और निकाल लेना। उसके इस बदले रुख पर अमर जो टिप्पणी करता है, वह मध्यवर्गीय बेबसी की दास्तान है, 'तू... तू...तू भी मर गई है मेरे साथ। तेरे पुन्न को देखकर जीता आया था मैं अब तक...मेरा अपना ही बोझ क्या कम था मेरे लिए...?'

राजी सेठ की कहानियों में हमारे सामाजिक-पारिवारिक-आर्थिक विडंबना के तमाम रूप हैं। हमारे समाज का हर चरित्र यहां मौजूद है। यहां कोई भी प्रश्न गौण नहीं है, पर स्वर लाउड होने की बजाय इन कहानियों में संवेदनात्मक गहनता है। कहानियों में जो मार्मिक अपील है, वह पाठकों तक सहज संप्रेषित होती है।

यहीं तक/राजी सेठ/भावना प्रकाशन, 109-ए, पटपड़गंज, दिल्ली-110091, मूल्य : ₹ 150

टी.टी.-36, रेलवे कॉलोनी, शाहदरा (रेलवे रिजर्वेशन काउंटर के सामने), शाहदरा, दिल्ली-110032
मो. 09650182789

कहानी

कहां है आम आदमी?

धीरज मिश्रा

हरिहर सिंह का सद्यः प्रकाशित कहानी संग्रह 'तीन टाँगों वाली कुर्सी' में सत्रह कहानियां हैं। उत्तर प्रदेश का पूर्वांचल गोरखपुर एवं समीपस्थ ग्रामीण क्षेत्र कथाकार की कथाभूमि है। स्वतंत्रता आंदोलन के गरम मिजाज सेनानियों के विचारों से प्रभावित कथाकार ग्राम्य संवेदना से परिपूर्ण है। कहानी आंदोलन की संधि रेखा पर उपस्थित हरिहर सिंह एक साथ कहानीकार, कवि एवं गीतकार हैं। इनकी रचनाओं का मुख्य सरोकार संवेदनात्मक मानवीय मूल्यों पर केंद्रित है। इनकी कहानियां आम इंसान की आकांक्षा, स्वप्न, संघर्ष एवं उनसे उत्पन्न तनाव को प्रस्तुत करती हैं। दिलचस्प बात यह है कि इनकी रचनाओं में समकालीन कहानी का लटका-झटका नहीं दिखलाई पड़ता है। वस्तुतः इनकी कहानियों में ठेठ मुहावरे का छौंक मिलता है।

हरिहर सिंह की कहानियों का दृष्टिकोण स्पष्ट उभर नहीं पाता। बेशक कहानियों में इतिहास से निर्मित प्रतीकों की कौशलतापूर्वक युक्ति अवश्य दिखलाई पड़ती है। साथ ही कई कहानियों में एक अंतःसूत्र का विन्यास जरूर दिखलाई पड़ता है। बावजूद इसके इन कहानियों में अनुभव का टटकापन दिखलाई पड़ता है।

प्रस्तुत कथा संग्रह में निश्चयात्मकता-वाद एवं उत्तर आधुनिकतावाद की आपा-धापी में घिरे इंसान की अंतरात्मा की शांति की खोज दिखलाई पड़ती है। इस दृष्टिकोण से संग्रह की पहली कहानी 'चीख' की सूक्ष्म व्यंजना देखने लायक है। हरिहर सिंह कहानी के अंतिम चरण में दिखलाते हैं—

'हमरा भीतर का साला हिंसक पशु जागा है। हम उसी के वास्ते किसी के घर नहीं जाते हैं। पता नहीं साला कब गड़बड़ मचा दे। अकेले घर में सांस घुटने लगती है तो सड़क पर घूमता है। परिचित लोगों के दरवाजे पर जाने में डर लगने लगता है।'

प्रत्यक्षतः यह डर वर्तमान में आम आदमी की उस मनःस्थिति को उजागर करता है, जहां मनुष्य की संवेदना/मनुष्यता खत्म हो रही है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आम इंसान कमोबेश इसी मनःस्थिति में अपना जीवनयापन करता है। यह हरिहर सिंह की व्यापक संवेदनात्मक दुनिया की ही प्रस्तुति है कि वे अगली कहानी 'हरसिंगार' में बिल्कुल पृथक प्रस्थान करते हैं। 'हरसिंगार' पहले भी था, यह प्रेम के संकोचशील विकास उत्सव की कहानी है। इस कहानी में हरिहर सिंह ने प्रेम की पुलक एवं उसके विकास के संवेदनात्मक वृत्त को संभव सामान्य भाषा में सामने लाया है। इस कहानी में वीरेन एवं नीता का साहचर्यजनित आकर्षण, पुनः प्रेम की उपस्थिति एवं परिस्थितिजन्य विलगाव की पीड़ा को चित्रित किया गया है। कहानी में प्रेम एवं उससे जुड़ी विवेकहीनता, कसमसाहट एवं विलगाव की त्रिकोणात्मक प्रक्रिया को सामने लाया गया है। प्रेम की मर्यादा की भी रक्षा होती है। नायिका के प्रति उद्‌गार को व्यक्त करते हुए कथाकार लिखता है—

'हो सकता है कि नीता के आंसू भी किसी अनजान क्षण के लिए ही हों और उसमें उसका कोई हिस्सा न हो, वरना जिस मन में सपने पिघलकर पानी में बह रहे हों, वह एक शब्द भी नहीं कहता है।'

प्रेम और उसमें पड़े मन की सही स्थिति को निरूपित करने वाली पंक्तियां हैं।

संग्रह की 'ऊआ' कहानी नारी विमर्श के दृष्टिकोण से बेहतरीन कहानी है। प्रस्तुत कहानी को नारी विमर्श के विभिन्न सैद्धांतिक टूल्स की सहायता से न भी देखा जाए, तब भी कहानी का प्रतिपाद्य सशक्त रूप में सामने आ जाता है। कहानी दिखलाती है कि नारी आंतरिक संपन्नता से ही स्थिति को संभाल सकती हे। नारी में इतनी अंतर्निहित शक्ति होती है कि वह तमाम कठिनाइयों का आसानी से मुकाबला कर सकती है। 'ऊआ' के माध्यम से सम्मान के साथ जीवनयापन करने वाली नारी एवं विधवा होने के बाद कलुषित दृष्टि से स्व की रक्षा करने की दृढ़ता से भरी हुई नारी का सशक्त चित्र सामने आता है। कहानीकार दिखला पाता है कि ऊआ जहां एक ओर सामाजिक स्तर पर स-सम्मान स्थिति में अपने को रखती है, वहीं दूसरी ओर एक अतिसंवेदनशील नारी भी है; जो अपनी संवेदनात्मकता को सही रखने के लिए समाज से टकरा भी सकती है।

हरिहर सिंह का मिजाज प्रेम के विभिन्न पक्षों पर बखूबी ध्यान देता है। इस प्रक्रिया में वे नारी मन के विभिन्न आयामों को चित्रित करते चलते हैं। दरअसल, समकालीन सत्ता संरचना एवं वर्चस्व के कारण मध्यवर्गीय इंसान मानसिक स्तर पर अपने को संघर्ष से घिरा पाता है। पूरी कहानी में 'ट्राइंगल इन माइंड' की स्थिति मिलती है। संग्रह की अगली कहानी 'धुंधलका' भी इसी प्रकार की कहानी है। 'परेशानी' समाज में आगे बढ़ने की सटीक प्रक्रियाओं का बखान करने वाली कहानी है। संग्रह की एक कहानी 'ताहिर दादा' है, जिसमें मनुष्य की इच्छाओं का फलन एवं उसकी विवशता को दर्शाया गया है। 'हिलती आकृतियां' कहानीकार की प्रतीकात्मक कहानी है। प्रस्तुत कहानी में बालपन की घटना एवं उससे संपृक्त संवेदना, वर्गीय विभेद के बीच फंसी संवेदना को सामने लाया गया है। 'सुराजी सर्टीफिकेट' में कहानीकार इतिहास की चीजों से भारतीय मन को खोलने का उपक्रम करता है। इस कहानी में स्वतंत्रता आंदोलन के प्रतीकात्मक कार्यकर्ता दधिबल के माध्यम से तत्कालीन सामान्य जनता के मेंटल स्ट्राटा को उकेरा गया है। एक स्थान पर एक गीत आता है, इससे कथानायक कहता है—

'अबकी सावन में, गोदबइवे
नवकी चाल के, गोदवनवा कमाल के ना
अंगुली पर होंगे अब्बास
बाजू पर सुभाष
भौंहें भगत सिंह गोदवइबें सीना तान के।
गोदनवा कमाल के ना
नकिया पर लेबे गोदवाई अजी नवरोजी दादा भाई

गांधी बाबा के गोदइवे दोनों गाल पर
गोदनवा कमाल के ना।'

यह तत्कालीन आम आदमी की मनःस्थिति को अवलोकित करता है। इससे यह कह सकना मुश्किल होगा कि इस कहानी के माध्यम से रचनाकार ने उस समय की हरेक भारतीय की स्थिति को निरूपित किया है। संग्रह की अगली कहानी 'एक उम्र मुहब्बत की' चित्रात्मक कहानी है। इस कहानी को पढ़ने का अपना आनंद है। वस्तुतः यह कहानी बतला देती है कि मुहब्बत उम्र का चेहरा नहीं परखती है। मुहब्बत ईमान, प्यार, भावनात्मकता का मुहताज हुआ करती है। 'चमचा' कहानी अखबारी घटनाओं सी प्रतीत होती है। यह कहानी थोड़ी कमजोर लगती है। इस कहानी में चलताऊ जुमलों का प्रयोग मिलता है।

'मैं स्वीकारता हूं कि पानी डालने से लपट नहीं निकलेगी, पर प्रयास एवं प्रतीक्षा की सीमा जब टूटती है तो इसी प्रकार की घटनाएं घटती हैं।'

संग्रह की अंतिम रचना 'पीली धोती' नसबंदी कार्यक्रमों के प्रयोगों एवं तत्कालीन अफसरशाही रवैये को लेकर लिखी गई कहानी है। यह आम आदमी एवं अफसरों की वृत्ति या हालात बनाने के कार्यक्रम के आधार पर लिखी गई रचना है।

समग्रतः यह कहना समीचीन होगा कि कहानी संग्रह एक अलग धरातल पर अवलंबित होने के कारण एक बार पठनीय है। जायका बदलने के लिजाह से भी और ग्राम्य दृष्टि से पुनः परीचित होने के लिहाज से भी!

तीन टाँगों वाली कुर्सी / हरिहर सिंह / प्रकाशन संस्थान, 4268-बी / 3 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 150

पी-एच.डी. शोधछात्र, म.गां.अ.हिं.वि.वि., पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिन्दा एक लाख पृष्ठ **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अन्तर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री, यथा, संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं। इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केन्द्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

देह और मन पर अधिकार मांगती औरत

जाहिद खान

कहानी संग्रह 'मुक्त होती औरत' के साथ कथाकार प्रमोद भार्गव एक लंबे अरसे के बाद कहानी की दुनिया में वापिस लौटे हैं। साल 1989 में छूटा कहानी का सिरा उन्होंने अब जाकर साल 2011 में दोबारा थामा है। तब से लेकर अब तक एक पूरा दौर गुजर गया। एक पीढ़ी बदल गई, लेकिन बावजूद इसके भार्गव की कहानी में वही तंज-ओ-तेवर बरकरार है, जो उनकी शुरुआती कहानियों मसलन, शपथ-पत्र और लौटते हुए में मौजूद था। पेशे से पत्रकार प्रमोद भार्गव की पेश्तर कहानियों में पत्रकारीय तटस्थ और तीखी नजर साफ दिखाई देती है। कहानी कहने का उनका तरीका औरों से जुदा है। जादुई यथार्थवाद, फैंटेसी और बौद्धिक भूल-भूलैया में फंसी दिग्भ्रमित कहानी के बरअक्स कथाकार भार्गव आसपास की जिंदगी में ही रचनात्मक संभावना की तलाश करते हैं। गोया कि उनका कथाकार मन अपने मनुभव से सामाजिकता को, अपने समय और परिवेश को जानने की कोशिश करता है और उनकी इन्हीं कोशिशों का ही नतीजा है प्रस्तुत संग्रह 'मुक्त होती औरत'।

इस संग्रह की महत्त्वपूर्ण कहानियां वो हैं, जो स्त्री मुक्ति, स्त्री-विमर्श का नया वितान रचती-बुनती हैं। स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों की पड़ताल से इतर प्रमोद भार्गव अपनी कहानियों के माध्यम से एक जुझारू और कर्मठ शक्ति के रूप में औरत की सकारात्मक छवि गढ़ते हैं। चाहे शीर्षक कहानी 'मुक्त होती औरत' हो या 'किरायेदारिन' या फिर 'सती का सत', उनकी सभी कहानियों में औरत संघर्ष की प्रतिमूर्ति है। लाख झंझावतों के बावजूद वह आखिर तक अपनी हिम्मत नहीं हारती। अगस्त, 2008 में 'हंस' में प्रकाशित संग्रह की शीर्ष कहानी 'मुक्त होती औरत' भार्गव की ऐसी ही एक कहानी है। एक सच्ची घटना पर आधारित इस कहानी में कथाकार ने धार्मिक, सामाजिक बंधनों और रूढ़िबद्ध परंपराओं, संस्कारों में कैद स्त्री की मुक्ति की परिकल्पना की है। बिल्कुल एक अलहदा अंदाज में। कहानी अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष जैसे जीवन से जुड़े चिरंतन सवालों की जहां सम्यक पड़ताल करती है, वहीं उदारीकृत बाजारवाद किस तरह आहिस्ता-आहिस्ता आदमी की जिंदगी में बदलाव लाता है, इसकी भी खुर्दबीन करती है, मगर कहानी के केंद्र में आखिर तक स्त्री ही रहती है। कहानी 'मुक्त होती औरत' के कहन के लिए प्रमोद भार्गव ने पत्रकारीय शैली का इस्तेमाल किया है। यही नहीं, पाठकों के सामने कहानी को प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने कहानी के शिल्प में व्यापक प्रयोग किया है, लेकिन शैली और शिल्प में प्रयोग के चलते कहानीपन पर कहीं आंच नहीं आती। कहानी में पाठक की उत्सुकता, लगाव शुरू से लेकर आखिर तक बना रहता है और यही एक कामयाब कथाकार की निशानी है।

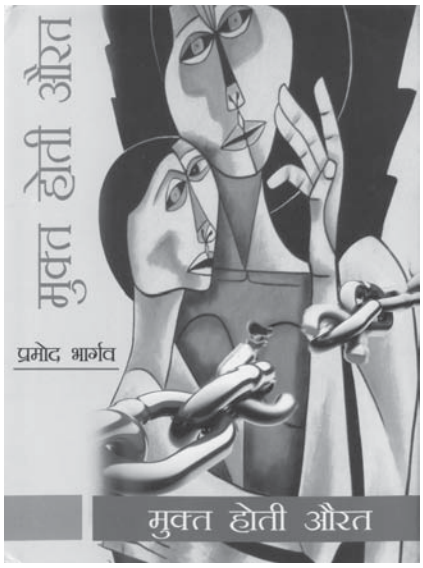

'मुक्त होती औरत' नायिका मुक्ता की कहानी है, जिसे उसके परिवार वाले असमय ही धर्म के लिए समर्पित कर देते हैं। धर्म की दीक्षा दिला उसे आर्यिका मुक्तिश्री बना देते हैं, लेकिन जीवन में यह संन्यास ही क्या मुक्ति का साधन है? या ये केवल एक झूठ-फरेब है, जिसे हम जानकर भी अपना लेते हैं। संन्यास के बाद क्या मानव मन शारीरिक जरूरतों से मुक्त हो पाता है? इन सवालों की जद्दो-जहद नायिका के मन में निरंतर चलती रहती है। आखिर में वह साध्वी मुक्तिश्री का चोला उतारकर दोबारा मुक्ता बन जाती है। सही मायने में एक 'मुक्त होती औरत', जो अपने फैसले खुद ले सके। ऐसी धार्मिक, सामाजिक व्यवस्था को वह ठोकर मारती है, जहां औरत पर बंधन हो। धर्म में मोक्ष की अवधारणा को वह खुद की इच्छाओं को मारना करार देती है, लेकिन कहानी सिर्फ इन सवालों पर ही केंद्रित नहीं रहती, बल्कि कहानी के विस्तार में जो दीगर बातें आती हैं, उनका भी ताल्लुक कहीं-न-कहीं हमारी बदलती जिंदगी से है। पूंजीवाद, उदारीकृत बाजारवाद के बाद समाज में जो व्यापक तब्दीलियां आई हैं, गोया कि ये सब लेखक की चिंताओं में शामिल हैं। कहानी 'मुक्त होती औरत' आर्थिक, सामाजिक विसंगतियों पर भी यथासंभव चोट करती है। जाहिर है कि यही सब बातें इस कहानी की संवेदना का विस्तार करती हैं।

कहानी 'सती का 'सत' की नायिका कनकलता का किरदार भी मुक्ता की तरह समाज की परंपरावादी सोच और औरत की आदर्श छवि के बरक्स बगावती तेवर वाला है। पति की असमय मृत्यु पर, उसकी चिता के साथ सती होने के लिए एक समय तैयार कनकलता कहानी के आखिर में एक नया

अवतार लेती है। समाज में खुले-आम वह कुछ ऐसे सवाल उठाती है, जिनसे हमारा पुरुषप्रधान समाज हमेशा किनाराकशी करता रहा है। 'न जाने क्यों लोग स्त्री से अपेक्षा करते हैं कि वह देह की कारा से मुक्त होने की बात सोचे ही नहीं...? अब आपसे क्या छिपाऊं शर्मा जी...पति के मर जाने से सभी का मन थोड़े ही हमेशा के लिए मर जाता है!' (पेज 66) कुल मिलाकर, इस एक बिंदु पर दोनों कहानियां एकमेव हो जाती है। देह की कारा से मुक्ति का सवाल ही सबसे अहम हो जाता है, लेकिन देह के कारावास से मुक्त होने की यह हिम्मत उस वक्त आती है, जब औरत खुद अपने पैरों पर खड़ी हो जाती है। आर्थिक स्वावलंबन ही वह द्वार है, जिसमें प्रविष्ट होकर वह अपनी मुक्ति की कामना कर सकती है।

'किरायेदारिन' कहानी की मुख्य पात्र किरायेदारिन में भी खुद्दारी इसलिए झलकती है कि वह अपने फैसलों के लिए खुद मुख्तियार है। एक विधवा औरत में परिस्थितियों के खिलाफ लड़ने का जो हौसला-माद्दा दिखलाई देता है, वह दरअसल आर्थिक स्वावलंबन की वजह से ही है। कथाकार प्रमोद भार्गव ने किरायेदारिन का किरदार गजब का गढ़ा है। किरायेदारिन में जहां एक तरफ खुद्दारी है, तो वहीं दूसरी तरफ असाधारण निडरता, आत्मबल एवं आत्मविश्वास भी। और उसे यह निडरता आहिस्ता-आहिस्ता वक्त के थपेड़ों ने प्रदान की है। कहानी 'शंका' की नायिका सतीश की पत्नी भी किरायेदारिन की तरह विपरीत परिस्थितियों में हिम्मत की डोर नहीं छोड़ती। प्रतिकूल हालातों में भी यह दोनों किरदार हालात से सीधी मुठभेड़ करते हैं।

आर्थिक उदारीकरण के बाय प्रोडक्ट के रूप में उपजे उपभोक्तावाद ने आज की कथित 'कल्चर्ड' पीढ़ी को किस तरह संवेदनहीन बना दिया है, यह कहानी 'परखनली का आदमी' में दिखलाई देता है। परखनली शिशु शशांक को उपभोक्तावादी जिंदगी ने इतना संवेदनहीन बना दिया है कि इंसानी जज्बातों का उसकी जिंदगी में कोई महत्त्व नहीं। मां की मौत के बाद भी वह निर्विकार बना रहता है। शिल्प की दृष्टि से 'परखनली का आदमी' एक जुदा ढंग की कहानी है। कथाकार ने अपनी इस कहानी में साल 2020 का तसव्वुर किया है कि आने वाला दौर किस तरह का होगा? यांत्रिक मानव यानी रोबोट और इंसान में कोई फर्क नहीं रह जाएगा, दोनों ही एक जैसा बर्ताव करेंगे। पश्चिमी संस्कृति और उपभोक्तावाद की दौड़ आखिर उस अंधी सुरंग में खुलेगी, जहां कोई रास्ता नहीं। पश्चिमी मूल्यों और बढ़ते उपभोक्तावाद ने आदमी की जिंदगी में कई तरह से बदलाव किए हैं, न सिर्फ मानसिक स्तर पर, बल्कि शारीरिक स्तर पर भी। कहानी 'परखनली का आदमी' और 'इंतजार करती मां' के किरदार अपने काम में इतना खो जाते हैं कि 'डबल इनकम, नो सेक्स सिंड्रोम' जैसी शुष्क बीमारी के शिकार हो जाते हैं। मानसिक तनाव और काम का अतिरिक्त दबाव उनके शरीर में शुष्कता पैदा कर देता है। न तो स्त्री में डिंब बनता है और न ही पुरुष में शुक्राणु का विकास हो पाता है। वास्तव में यह खतरनाक स्थिति है। दोनों ही कहानियां हमें यह सोचने को मजबूर करती हैं कि अब भी हम नहीं जागे तो बहुत देर हो जाएगी।

आजादी के बाद हमारे मुल्क का गांव और किसान कितना बदला और उसकी मौजूदा समस्याएं क्या हैं? कहानी 'गंगा बटाईदार' और 'दहशत' में साफ तौर पर दिखलाई देता है। दोनों ही कहानियों में कथाकार प्रमोद भार्गव ने खेतिहर किसानों की त्रासदी का बहुत ही अच्छी तरह से चित्रण किया है। गोया कि यह दोनों ही कहानियां मुल्क में हरित क्रांति के बाद का सच बयान करती हैं। ठेका खेती, खेतों में बढ़ता रासायनिक खादों का इस्तेमाल और जीएम बीज किसानों को किस तरह से तबाही की ओर ले जा रहे हैं, यह गंगा बटाईदार की कहानी है, लेकिन क्या यह सिर्फ गंगा बटाईदार की कहानी है, या हमारे मुल्क के उन लाखों-लाख किसानों की, जो आहिस्ता-आहिस्ता बहुराष्ट्रीय कंपनियों के जाल में फंसते जा रहे हैं। परंपरागत खेती, जैविक खाद के इस्तेमाल से जो किसान कल तक खुशहाल था, रासायनिक खादों के इस्तेमाल ने उसकी खुशहली छीन ली। रासायनिक खादों के अंधाधुंध इस्तेमाल ने भूमि की उर्वरा शक्ति खत्म की, तो जीएम बीज ने उसे कहीं का नहीं छोड़ा। कुदरत की मार और कर्ज में डूबा किसान आज लगातार आत्महत्या की ओर बढ़ रहा है, तो उसकी सच मायने में कुछ वजहें भी हैं। कुल मिलाकर कहानी 'गंगा बटाईदार' मौजूदा खेती-किसानी का क्रिटिक रचती है।

कहानी 'दशहत' बलुआ सहरिया आदिवासी की कहानी है, जिसे दीगर दलितों और आदिवासियों के साथ जब सरकार ने जमीन के पट्टे बांटे, तो उसे लगा कि अब उसके जैसे भूमिहीनों के दिन जल्द ही बहुरेंगे। बलुआ के दिन बदले भी, लेकिन उसकी खुशहाली को जैसे किसी की नजर लग गई। जिस कुएं के पानी से उसकी 5 बीघा जमीन की फसल लहलहा रही थी, विधायक के खेत में ट्यूबैल लगते ही उसका पानी नीचे उतर गया। 'बलुआ का माथा ठनका। कुशंका सही साबित हुई। बलुआ को लगा, का वाकई उसे विधायक के खेत को माजनो सुधारने के लाने, खेत बेचनो होगो।' (पृ. 55)

कहानी 'कहानी विधायक विद्याधर शर्मा की' और 'जूली' मौजूदा सियासत पर गहरा तंज करती है। मुल्क में पंचायती राज अमल में आया तो लगा कि अब गांव-गांव तक सत्ता पहुंचेगी, सत्ता का विकेंद्रीकरण होगा। गांवों में भी खुशहाली आएगी, लेकिन इस पंचायती राज का किसने फायदा उठाया और वास्तविक सत्ता किसके हाथ लगी, कथाकार प्रमोद भार्गव ने कहानी 'जूली' में बखूबी दिखलाया है। आदिवासी महिला सीट आरक्षित होने के बाद जूली आदिवासी, जिला पंचायत अध्यक्ष बन तो जाती है, लेकिन दूसरों के इशारों पर नाचने के लिए, आखिर में वह सिर्फ कठपुतली साबित होती है, जिसकी डोर किसी दूसरे के हाथ में है। कहानी 'कहानी विधायक विद्याधर शर्मा की' में कथाकार प्रमोद भार्गव का सर्वश्रेष्ठ व्यंग्य सामने निकलकर आया है। अपने पिता की चौथी संतान निकम्मा, नाकारा धरपकड़ किस तरह राजनीति का ककहरा सीखकर विधायक विद्याधर शर्मा बनता है, कहानी में मजेदार तरीके से दिखलाया गया है। 'कहानी विधायक विद्याधर शर्मा की' और 'जूली' दोनों ही कहानियां हमें दिखलाती हैं कि किस तरह से हमारी राजनीति दिन-पे-दिन पतित होती जा रही है।

कहानी 'पिता का मरना' अपने अनोखे शिल्प और कथ्य की वजह से अपनी ओर ध्यान खींचती है। पूरी कहानी शुरू होते ही बैकग्राउंड में चलती है। अस्पताल में जिंदगी

और मौत के बीच झूल रहे कबीर बाबू पल भर में अपनी पूरी जिंदगी का पुनरावलोकन कर लेते हैं और आखिर में इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि बीमारी में घिसट-घिसट कर जिंदा रहने से तो ज्यादा अच्छी उनकी मौत होगी। नौकरी के दौरान उनकी मौत कम-से-कम उनके निकम्मे, बेरोजगार बेटे को अनुकंपा नौकरी तो दे जाएगी। कहानी का अंत बड़ा ही मार्मिक है। जब कबीर बाबू अपनी नाक में लगी हुई ऑक्सीजन की नली को हाथ से खींचकर बुदबुदाते हैं, 'समय रहते मुझे मर जाने दो, शेखर की मां...कुणाल को अनुकंपा नियुक्ति मिल जाएगी, बेटी के हाथ पीले हो जाएंगे और तुम्हारी शेष जिंदगी पेंशन से कट जाएगी।' (पृ. 43) 'पिता का मरना' कहानी के जरिए कथाकार प्रमोद भार्गव ने हमारे मुल्क के मध्य वर्ग की बहुत अच्छी तरह से पड़ताल की है। 'भूतड़ी अमावस्या', 'नक्टू', 'शंका', 'मुखबिर' और 'छल' संग्रह की साधारण कहानियां हैं। चूंकि इन कहानियों का कैनवास काफी छोटा है, लिहाजा पाठकों पर ये कोई ज्यादा असर नहीं छोड़तीं।

अंततः 'मुक्त होती औरत' अपने कथ्य और शिल्प की दृष्टि से एक बेहतरीन कहानी संग्रह है। खासतौर पर स्त्री को केंद्र में रखकर जो कहानियां रची-बुनी गई हैं, वे अच्छी बन पड़ी हैं। कथाकार तटस्थ नजरिये से समस्याओं को देखने-समझने की कोशिश करता है, लेकिन फिर भी संग्रह की ज्यादातर कहानियों में एक विचार की कमी साफ-साफ महसूस होती है। भार्गव की कहानियों के किरदार हालांकि, परिस्थितियों से संघर्ष करते हैं, मगर उनकी कोई स्पष्ट दिशा नहीं दिखलाई देती और यही इन कहानियों की सबसे कमजोर कड़ी है। जहां तक कथाकार की भाषा का सवाल है, भाषा के स्तर पर यह संग्रह बिल्कुल ही प्रभावित नहीं करता। नई सदी में हिंदी साहित्य में जिस तरह अभी ताजा हवा की बयार आई है, उससे यह कहानी संग्रह अछूता दिखलाई देता है। फिर भी लेखक के सामाजिक सरोकार ही कहानी संग्रह को बड़ा बनाते हैं।

मुक्त होती औरत/प्रमोद भार्गव/प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 250

महल कॉलोनी, शिवपुरी (म.प्र.) मो. 09425489944

कविता

सपनों से कैसे बनते हैं सपने

केवल गोस्वामी

सपना देखना मनुष्य का स्वभाव है। सपना राजा भी देखता है, रंक भी देखता है, यद्यपि दोनों के सपनों में मौलिक अंतर होता है। सपना कवि तो देखता ही है, बढ़ई, लोहार, कामगार भी सपने देखते हैं। रास्ते के बीचो-बीच खड़े होकर किधर जाना है—जब तक यह सपना आपकी आंखों में नहीं तैरता, आप अगला कदम नहीं उठा सकते यानी विकास की दशा-दिशा-सृजन के लिए दुख सहने के लिए सुख को सहेजने के लिए सपने दूर तक हमारा साथ देते हैं।

कुछ सपने तात्कालिक होते हैं, बुलबुले की तरह उफनकर बुझ जाते हैं, वे भी स्मृतियों पर कभी-कभी गहरे निशान छोड़ जाते हैं। सपने सदैव सार्थक अथवा रचनात्मक ही नहीं होते; व्यक्ति का परिवेश और उसका अनुभव सपनों को आधार देता है। साहिर लुधियानवी के इस शेर में—

दुनिया ने तजुर्बात ओ हवादिस की शक्ल में
जो कुछ मुझे दिया वही लौटा रहा हूं मैं।

इसमें समाज की आलोचना भी है और शिकायत भी है। सपने जहां उदासी हर लेते हैं, वहां सपने उदास कर भी देते हैं।

प्रकृति के संसर्ग में आए सपनों की स्फूर्ति, उनकी अभिव्यक्ति की भाषा का सौंदर्य सर्वथा भिन्न होता है। हर आदमी, पहाड़, जंगल, समुद्र, बादल, वर्षा के सपने देखता है, ये सपने उसके व्यक्तित्व को विस्तार देते हैं। उसे बंधन मुक्त, उन्मुक्त बनाते हैं, निर्भर करता है सपने देखने वाले की दृष्टि पर। शम्भु बादल कहते हैं—

प्यारे मेघ
प्रफुल्ल बच्चों की तरह
जब खिल-खिल कर हँसते हो
गतिशील नदी की तरह
गीत गाते हो
कितने अच्छे लगते हो

यहां पर बादल का मानकीकरण कविता के यथार्थ को नए आयाम तो देता ही है, बादल की क्रिया-प्रक्रिया भी हमारे मन को झंकृत करती है।

मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ सपना ईश्वर का है। इस सपने का कार्यव्यापार सघन एवं विस्तृत एक साथ है। इस सपने की क्रिया-प्रक्रिया, प्रभाव समय-समय पर बदलते रहे हैं।

तू ढूंढ़ता मुझे था जब कुंज और बन में
मैं था तुझे बुलाता तब दीन के वतन में

जब पंडे-पुजारियों ने भगवान को अगवा कर लिया तो दीन के वतन से भगवान का

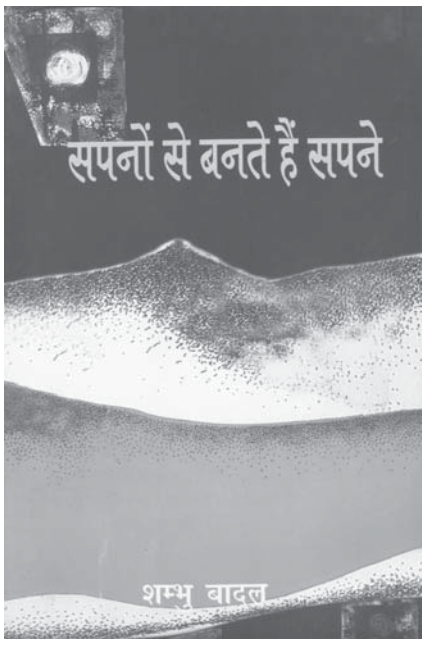

नाता टूट गया। अब वह लालबाग के राजा के रूप में जाना जाता है, जहां करोड़ों का चढ़ावा चढ़ता है, लाखों का सोना पाया जाता है, अब भगवान और भक्तों को भी सुरक्षा की जरूरत महसूस होने लगी है। टेलीविजन के हर चैनल पर विश्वास और अच्छे विश्वास का भरपूर व्यापार होता है, यानी धर्म ने संपूर्ण उद्योग का रूप धारण कर लिया है और भगवान उसका माध्यम है। संग्रह में एक कविता है—

पुजारी दिखा
वह अहिंसा मद का शरबत पिलाता है
पांच बार पूजा की प्रेरणा देता है
अंतःचेतना आक्रांत होती है
अपराधबोध की भट्टी जलती है
लोग हाथ जोड़ लेते हैं

तंत्र-मंत्र आदिकाल की विद्या ही नहीं थे, इक्कीसवीं शताब्दी में भी उसका व्यवहार एवं व्यापार चरम सीमा पर है। ठीक व्यवस्था की नाक के नीचे, टेलीविजन द्वारा सीधे आपके घर में प्रवेश! कहीं कोई रोक-टोक नहीं, क्योंकि इसका आधार पैसा है, पैसा नियम-कानून को नहीं मानता, उसके अपने नियम-कानून होते हैं।

कुछ लोगों का सपना होता है, दूसरों के सपनों को छीनना, छिन्न-भिन्न करना, उनकी राहों में हजार कांटे बोना! वे लोग, जिन्होंने बाज़ार का सपना देखा है, उनका मापदंड पैसा है। देवता-पिशाच और कहीं नहीं, यहीं हैं हमारे आसपास।

सपने किसने सब चुरा लिए
पंख किसने सब नोच लिए?
पंकिय राजनीति के अधिकारों को
दौलत की देवी को
हमारा प्राप्य किसने दिया?
अथवा
धर्म-धर्म दहक उठे
दंगों के तवे लाल हुए
हमारे अंग जले
घर-घर
वेदी पर
सिसक रहा
मानव पैर तले
मानव कुचल गया
तुम भाषण गीत में
डूबे रहे/दान-पुण्य करते हुए।
लौट जाती है उधर की नजर क्या कीजै।

बहुत कम रह गए हैं, जिनकी नज़र उधर को लौटती है। गुजरात में नर-संहार हुआ, उसकी तीव्र भर्त्सना हुई, होनी भी चाहिए थी, पर नंदीग्राम एवं सिंगूर में जो कुछ हुआ, वह गुजरात से कुछ कम तो नहीं था, किंतु उसके विषय में कहीं कोई पंक्ति तक नहीं लिखी गई, यह कैसी प्रतिबद्धता है, आखिर साहित्य में किस यथार्थ को प्रश्रय दिया जाए?

पूंजीवाले आपस में लड़ते हैं
स्वाभाविक है
क्रांति समर्पित कुछ लोग
आपस में लड़ते हैं
'लड़ते हैं' देख
इतिहास की ओर लुढ़कता समय
शोकाकुल हाथ हिला
क्या-क्या कहता है?
सुनते हो?

कवि का यह प्रश्न इतना अप्रासंगिक या अनावश्यक भी नहीं कि उसे दरकिनार कर दिया जाए, किंतु पुरस्कारों की होड़ में लगे कवि-रचनाकार कहां सुनते हैं ऐसे 'सवाल, उनके कानों के पास चीख-चीख कर कहिए, नहीं सुनेंगे यथार्थ के नाम पर कालिख पोतने वाले। भ्रष्टाचार देश की नस-नस में व्याप्त है। एक घोटाले की चर्चा अभी बीच में होती है कि उससे बड़ा घोटाला हो जाता है। लोग पहले घोटाले को भूल जाते हैं, पर जब न्यायाधीश अथवा पूर्व सेनाध्यक्ष इसकी ज़द में आते हैं, तो निराशा का पारावार नहीं रहता। यानी जिन पे तकिया था वही पत्ते हवा देने लगे—

शम्भु बादल ने इस कविता में व्यक्त किया है—

कहो-कहो
आजाद उच्छृंखल नेताओं की पांत
क्या-क्या किए तुमने
सैंतालीस से अभी तक की उम्र।
इधर क्यों झुर्रियां उभर आईं
अंग शिथिल हुए
लकड़ी से सूख गए?
उधर तोंद ढोल बनी
शरीर-बेडौल हुआ।

मीडिया में आया जी.डी.पी. इतने प्रतिशत पर पहुंचा। अमरीकी राष्ट्रपति यहां आकर कहता है भारत विकासशील नहीं, विकसित देश है, पर सरकारी आंकड़े यह भी कहते हैं कि देश की आबादी का 47 प्रतिशत ऐसे

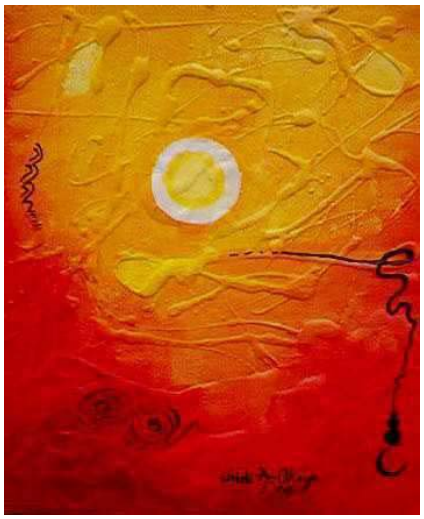

लोगों का है, जिन्हें दो जून की रोटी नसीब नहीं होती और अनाज सड़कों पर सड़ता रहता है। यह कैसा विकसित देश है। इसे कवि ने अपनी कविताओं में शिद्दत के साथ रेखांकित किया है। एक ओर अपराधवृत्ति के नेता हैं। घोर स्वार्थ की नींद में सोए तो दूसरी ओर कामरेड महेंद्र सिंह सरीखे जननायक भी हैं। देश की तस्वीर को बदलने की खातिर प्राणों का उत्सर्ग करने वाले।

शहीद कामरेड महेंद्रसिंह
तुमने
क्रांति की
उदास फसलों को
अपने खून से सींच
हरा भरा किया
तुम्हारे खून का हर कतरा
संघर्ष का उर्वर बीज बन
लाखों शाखाओं में लहराएगा।

यह विश्वास ही जीवन और सृजन को बल देता है। यह विश्वास संकलित कविताओं को एक पहचान भी देता है, शम्भु बादल इस दिशा में विशेष रूप से सक्रिय हैं। कला से बोझिल न कर कवि ने आम आदमी तक संप्रेषित होने वाली शैली एवं भाषा का प्रयोग किया है और वह इस प्रयत्न में बहुत हद तक सफल भी हुआ है।

सपनों से बनते हैं सपने/शम्भु बादल/वाणी प्रकाशन, 21-ए दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 250

जे.363, सरिता विहार, मथुरा रोड, दिल्ली-110076, मो. 09871638634

सुदीप बनर्जी का साफ आसमान

सुभाष शर्मा

चंद्रकांत देवताले एवं अन्य द्वारा संपादित पुस्तक 'आसमान का समकालीन' कवि सुदीप बनर्जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में है। इसमें उनतीस साहित्यकारों और करीबी लोगों के लेख हैं, छः साक्षात्कार हैं और सुदीप बनर्जी के कई लेख एवं कुछ अनुवाद भी हैं। यह हिंदी साहित्य और हिंदी पट्टी की साहित्यिक-सांस्कृतिक उदासीनता का प्रतीक है कि सुदीप बनर्जी के बारे में उनके जीवनकाल में कोई पुस्तक नहीं छपी—न आलोचकों ने उन पर खास ध्यान दिया और न शोधकर्मियों ने। शायद नौकरशाही में कार्यरत होने के कारण उनसे लाभ लेने वाले साहित्यकारों ने भी उनका मूल्यांकन करना उचित नहीं समझा जबकि तमाम साहित्यकार उनके आगे-पीछे झपताल बजाते रहे। यूं यह सच भी रेखांकित करने योग्य है कि सुदीप जी ने किसी की मदद के बदले में उससे अपनी प्रशंसा कभी नहीं चाही। इस संदर्भ में भगवत रावत का यह कथन बिलकुल समीचीन है, 'बहुत सारे साहित्यकारों के लिए वह या तो कवि ही नहीं था या ज्यादा-से-ज्यादा एक असफल कवि था। बहुतों के लिए सिर्फ एक अफसर कवि था। अनेक लोगों के लिए उसकी रुचियों का फायदा उठाकर लाभ कमाने का एक सुलभ जरिया था...। सुदीप जीवन भर सबको न्याय दिलाने के लिए लड़ा, पर उसके साथ न्याय नहीं किया गया।' (पृ. 54) यहां वह अशोक वाजपेयी का जिक्र करते हैं, जिन्होंने सुदीप जी के निधन पर 'जनसत्ता' के 'कभी-कभार' कॉलम में छोटी-सी टिप्पणी की थी, मगर भगवत रावत, कमला प्रसाद, विष्णु नागर, अरुण कमल, मंगलेश डबराल, असद जैदी, राजेंद्र शर्मा एवं अन्य प्रगतिशील रचनाकारों ने भी उनके लेखन के साथ कब और कहां न्याय किया? पूर्णकालिक कवि न होते हुए भी सुदीप जी ने कई प्रतिरोधी राजनैतिक कविताएं लिखीं, विशेषकर बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद। निःसंदेह नौकरशाही में रहते हुए और कभी-कभी प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने के बाद भी उन्होंने समझौता नहीं किया। उन्होंने स्वयं सत्तासुख नहीं उठाकर, साहित्यकारों और जरूरतमंदों के लिए अपने अधिकारों और शासनिक प्रावधानों का सदुपयोग किया। वह कहा करते थे कि तंत्र बांसुरी की तरह होता है और उसे बजाने वाला मनचाहा स्वर निकाल सकता है। शायद उनकी वैचारिक समझ-बूझ और कवि-हृदय उनसे जनोन्मुखी नीतियां बनवाता और कार्यान्वित कराता था। उन्होंने राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की परिकल्पना, नीति निर्धारण और कार्यान्वयन में सैंकड़ों प्रगतिशील साहित्यकारों एवं लोक कलाकारों को शुरू से अंत तक जोड़ा और लाखों जागरूक कार्यकर्ताओं को सक्रिय रूप से तैयार किया। महाश्वेता देवी का यह उद्‌गार ध्यातव्य है। 'सुदीप जैसा मददगार, नेकदिल और उदारमना आदमी मुझे कोई दूसरा नजर नहीं आता। उनमें परदुख कातरता कूट-कूट कर भरी थी, इसी कारण वे बहुत ऊंचे मानुष थे।' (पृ. 21)

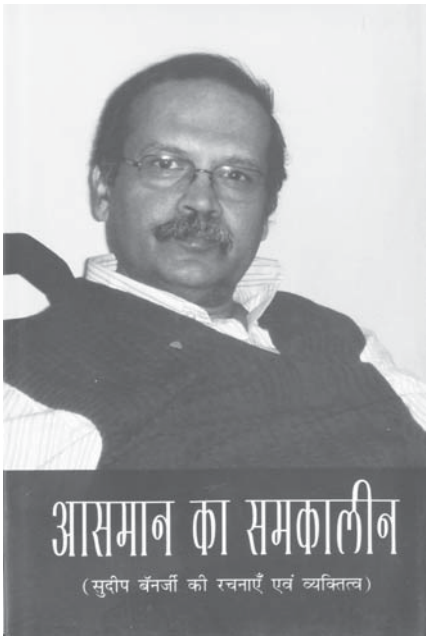

जब अर्जुन सिंह ने पंजाब के राज्यपाल के रूप में राजीव-लोंगोवाल समझौता कराया (1985), तो सुदीप बनर्जी ने नेपथ्य में रहकर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, क्योंकि उन्हें पंजाब के बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों का विश्वास प्राप्त था। ऐसा एक लेख में स्वयं अर्जुन सिंह ने स्वीकार किया है। मध्यप्रदेश के उज्जैन में सुदीप जी ने हिंदी माध्यम के सरकारी विद्यालय में ही शिक्षा प्राप्त की थी और कुशाग्र बुद्धि होने के कारण बारहवीं की बोर्ड परीक्षा में उन्हें सर्वोत्तम अंक मिले थे। स्नातक शिक्षा में उन्होंने हिंदी साहित्य, संस्कृत साहित्य और अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया। इस बार भी उन्हें पूरे विक्रम विश्वविद्यालय में सर्वोच्च अंक प्राप्त हुए। उनकी रचनाएं इन तीन भाषाओं के अलावा बंगला एवं उर्दू साहित्य के स्वाध्याय से समृद्ध होती गईं। उनका मानना था कि सद्‌भाव के लिए भी उर्दू का ज्यादा उपयोग जरूरी है। यह उनका सौभाग्य था कि उन्हें चंद्रकांत देवताले जैसे कवि शिक्षक के रूप में मिले। शिक्षाविद् कृष्ण कुमार ने उन्हें शिक्षा सचिव के रूप में हमेशा कल्पनाशील, उदार और सामाजिक क्षमताओं वाला पाया था। उनके शब्दों में, 'सुदीप बनर्जी सिर्फ सरकारी अधिकारी नहीं थे; वे सरकारी अधिकारी भी थे, यह मानना ज्यादा उचित होगा।' (पृ. 50)

वह विनम्रता और अप्रचार के कायल थे। कमला प्रसाद ने लिखा है कि उन्हें शासन द्वारा नेशनल बुक ट्रस्ट के एक शिष्ट मंडल में पाकिस्तान भेजा गया और केंद्रीय हिंदी संस्थान का उपाध्यक्ष भी बनाया गया। उन दोनों के पीछे सुदीप बनर्जी थे, मगर उन्होंने स्वयं उनसे

इन दोनों कार्यों के बारे में कभी नहीं कहा। उन्होंने राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के महानिदेशक के रूप में कई लघु पत्रिकाओं को बार-बार विज्ञापन देकर आर्थिक सहयोग किया। आग्नेय मानते हैं कि सुदीप जी के व्यक्तित्व के तीन रूप थे : अफसर, कवि एवं मित्र, मगर इसे व्यक्तित्व-विभाजन नहीं कहा जा सकता। ये तीन अलग-अलग भूमिकाएं हैं, जिन्हें वह बखूबी निभा रहे थे। आग्नेय के शब्दों में, 'यदि वे नौकरशाह नहीं होते, तो वे कवि भी नहीं होते। उनकी इस चेतना ने उनको ऐसा कवि रूप दे दिया है, जो निरंतर जीवन और कविता की दूरी को लांघना, फांदना चाहता है ...उनके लिए कविता लिखना कितना कठिन काम था, जिसे वह उस तरह नहीं कर पा रहे हैं; जिस तरह वह करना चाहते थे। ऐसा न कर पाने से वह बेचैन हैं; परेशान हैं; एक लय के लिए, शब्दों के करीब आने से भी कविता नहीं बनती। इसका यह नतीजा है कि कविता एक छलना बन जाती है उनके लिए। और वे किसी भी लय में लफ्जों (?) को सिमटाकर बेतरतीब अंदाज को कविता कहकर झोंक देते हैं आबादियों में।' (पृ. 114) आग्नेय का यह कथन सुदीप जी की कविता 'मैंने सोचे कई-कई नाम' पर आधारित है, किंतु यह फतवा आपत्तिजनक है, क्योंकि नौकरशाह होने से ही कोई कवि-कहानीकार-आलोचक नहीं हो जाता। फिर एक कविता के आधार पर किसी कवि को उसके व्यवसाय से जोड़ने का कोई औचित्य नहीं है। सुदीप की दूसरी कविता 'शकुंतला' के आधार पर आग्नेय का दूसरा फतवा और भी ज्यादा आपत्तिजनक है : 'इनको पूरी तरह यह अहसास है कि एक कवि शब्दों के पिंजड़े को संभाले इधर-उधर भटकता एक बहेलिया है। वह स्वयं कवि के रूप में एक बहेलिया है, किंतु वे यह भी जानते हैं कि उनकी कविता के पालने में परिंदों के लिए जगह रहे ताकि वे जख्मी न हों।' (पृ. 114) यह कथन ज्यादती तो है ही, दूसरी ओर आग्नेय के तीसरे कथन का विरोधी भी है कि सुदीप की कई कविताएं आम आदमी के सवालों का जवाब देने में समर्थ हैं (पृ. 115)। इस प्रसंग में मंगलेश डबराल के निम्नलिखित अवलोकन ज्यादा उचित हैं : पहला, सुदीप जितने सच्चे अदीब थे, उतने ही सच्चे इंसान भी थे। इन दोनों पहलुओं को अलग करके देखना संभव नहीं था (पृ. 116)। दूसरा, वह समाज के कैंसर से चिंतित थे, जो सांप्रदायिकता, हिंदुत्ववादी फासिज्म, निजीकरण, अमरीकीकरण और मध्यवर्गीय स्वार्थपरता के रूप में समाज को खोखला बना रहा है (पृ. 117)। तीसरा, उनकी कविता सामाजिक लगाव और दार्शनिक विराग से भरपूर है और उसमें शिल्प की ऐसी उस्तादी और कसावट है कि किसी शब्द का हेर-फेर करना कठिन है (पृ. 118-119)। चौथा, वह अपने जीवन और काम दोनों के माध्यम से एक वृहत्तर दुनिया बनाने में लगे रहे (पृ. 119)। मैं समझता हूं कि मंगलेश डबराल ने इन चार अवलोकनों से सुदीप बनर्जी का मुकम्मल मूल्यांकन करने की ईमानदार कोशिश की है। इसी प्रकार अरुण कमल ने पाया है कि उनकी कविताएं अलग पठन संस्कार की मांग करती हैं, क्योंकि उनमें तनाव है, मिश्र भावों के गुम्फन हैं और संघर्ष करने का जज्बा है। तभी तो सुदीप जी ने नारे जैसी सुगमता और तीक्ष्णता के साथ कहा है, 'हर उठता हुआ हाथ सूर्योदय है हर ठहरा कदम मकबरा।' सो वह उन्हें विपक्ष और प्रतिरोध का कवि मानते हैं, जो बिल्कुल सही है। वह गहरे आवेग, क्रोध और तिरस्कार से सांप्रदायिकता पर आक्रमण करते हैं। इसी प्रकार राजेंद्र धोड़पकर ने ठीक ही कहा है कि सुदीप जी की कविता में भाषा और कथा को लेकर 'इतने ज्यादा जोखिम हैं, इतने ज्यादा प्रयोग हैं कि आश्चर्य होता है।' (पृ. 125) इसी प्रकार विष्णु नागर ने उनकी कविताओं की विशेषता इस तरह रेखांकित की हैं : 'उनकी कविता गढ़ी हुई, टुकड़ों-टुकड़ों को जोड़कर करीने से सजाई हुई कविता नहीं है। इसमें न शब्द, न सहानुभूति, न आत्मव्यंग्य कृत्रिम है। जो है खरा है, या फिर नहीं है। इसलिए वे कविता बनाते नहीं...वह सरलता अक्सर सपाटपन नहीं है।' (पृ. 130) लीलाधर मंडलोई ने उनकी काव्य-भाषा की सामासिकता और कविता के प्रतिरोध की बात की है : इसमें सतत् लीला भाव प्रवहमान है, जिसमें 'सृष्टि के अनेक राग-रंग, दुःख-सुख और बेचैनियों की अभिव्यक्ति है' (पृ. 141) इतना ही नहीं, 'वस्तु और भाषा के चौकन्नेपन के साथ वे अत्यंत विश्वसनीय राजनीतिक कवि हैं...उनका भरोसा जनसाधारण पर हमेशा बना रहा। इसी कारण उनकी कविता साधारण में असाधारण शक्ति का गुणगान करती है।' (पृ. 141) सो लीलाधर मंडलोई का स्पष्ट मानना है कि उनकी कविताओं में सोशल एक्टिविस्ट की भाषा मौजूद है, जैसे नागार्जुन की कविताओं में है।

अपने लेखों में सुदीप बनर्जी ने स्वास्थ्य, शिक्षा आदि के निजीकरण का विरोध किया है। उनके शब्दों में, 'जब तक समाज के मुखर वर्ग उनसे जुड़े रहते हैं, उनकी गुणवत्ता अपेक्षाकृत बेहतर रहती है। जैसे-जैसे समर्थ वर्ग उनसे कटने लगता है, संस्थाओं की गिरावट शुरू हो जाती है। गरीब वर्ग वर्तमान व्यवस्था में शासन पर दबाव नहीं बनाए रख सकता है।' (पृ. 161)। यह बेलौस कथन कोई समर्थ कवि ही कह सकता है, जिसका सरोकार सत्ता-सुख की बजाय जनता के दुःखदर्द से सीधे है। विश्व के प्रथम आधुनिक कवि वाल्ट ह्विटमैन की कविताओं का सुदीप जी ने हिंदी में अनुवाद भी किया है, जो लंबी कविताओं के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने स्थापित मूल्यों का विरोध किया था, सो उन्हें अपने युग में स्वीकृति नहीं मिली। मेरा मानना है कि जो रचनाकार दूसरे रचनाकार की रचनाओं का अनुवाद करता है, उससे तादात्म्य भी स्थापित करता है। सुदीप जैसा प्रतिरोध का कवि ही दूसरे प्रतिरोध के कवि की कविताओं का अनुवाद सहर्ष करता है, जिसमें उसका साझा विश्वास निहित होता है। कई साक्षात्कारों में सुदीप जी ने अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में कई बातें बताई हैं : पहली, एक कविता को वह एक साथ कई भाषाओं में सोचते थे—विशेषकर अंग्रेजी, बंगला, हिंदी, उर्दू में (पृ. 210)। दूसरी, मनुष्य दूसरे के आईने में ही खुद को पहचान सकता है (पृ. 207)। तीसरी, नदी से मुझे लगाव है, क्योंकि वह हमारी जातीय स्मृति है (पृ. 212)। चौथी, उन्नीस सौ नब्बे में मैंने ज्यादातर कविताएं सांप्रदायिकता के ऊपर लिखीं (पृ. 214)। पांचवीं, उम्मीद का स्रोत विचारधारा नहीं, कवियों का जीवन है, जो केवल विचारधारा या अन्य साहित्यिक सरोकारों के चलते अपनी कविता हासिल करते हैं, उनमें वैसी आंच नहीं होती (पृ. 227)। छठवीं, हिंदी के मंचों पर इतनी कम जगह है कि जो आलोचना के या अभिरुचि के आतंक में अपनी बात कह पाता है, उसे ही उन पर चढ़ने के लिए रियायत मिलती है (पृ. 227)। सातवीं, मेरा प्रिय शब्द 'राजनीति' ही है, क्योंकि मैं रिश्ते कायम करना चाहता हूं (पृ. 228)। आठवीं, हर नई

आने वाली पीढ़ी पहले वाली पीढ़ी से बेहतर मन, बेहतर संकल्प लेकर आती है (पृ. 231)। नौवीं, कई बार मैंने सपने में भी पूरी कविता बनाई है और सुबह तक तैयार हो गई है (पृ. 236)। दसवीं, तत्सम भाषा हिंदी का अपना मिजाज नहीं है। सो अपने बंगला के तत्सम भाषी होने से उबरने के लिए मुझे हिंदी भाषा को कविता में लाना जरूरी लगा, जिसमें कुछ कहने की ज्यादा गुंजाइश नजर आई। मैं हिंदी के सांप्रदायीकरण के विरुद्ध था (पृ. 249)। ग्यारहवीं, 'हिंदी इतनी खराब भाषा है कि अच्छे कवि को यहां कोई सामाजिक स्वीकृति नहीं मिल पाती है...हिंदी विचित्र भाषा है, जिसमें सेठ गोविंद दास, वी.पी.सिंह और अटल बिहारी वाजपेयी तो साहित्यकार माने जाते हैं, पर शमशेर बहादुर सिंह नहीं।' (पृ. 250)। बारहवीं, लेखन से समाज में बदलाव आता है, लेकिन गति बहुत धीमी होती है, समाज हमेशा धीरे-धीरे करवट लेता है (पृ. 255)

इस प्रकार जाहिर है कि तमाम साहित्यकारों और करीबी लोगों ने सुदीप बनर्जी का स्मरण किसी-न-किसी रूप में किया है, मगर सवाल उठता है कि उनके जीवन काल में उनका मूल्यांकन क्यों नहीं हुआ? यूं उन्हें 'शमशेर सम्मान' मिल चुका था, मगर हिंदी आलोचना के परिदृश्य में उस हिंदी कवि को तवज्जो नहीं दी गई, जिसने बंगलाभाषी होने के बावजूद हिंदी भाषा-साहित्य एवं हिंदी समाज की तन-मन-धन से अहर्निश सेवा की। इस पुस्तक का शीर्षक उपयुक्त है, क्योंकि सुदीप जी का जीवन और काम आसमान-सा खुला एवं असीम है। यह हिंदी साहित्यिक आलोचना की दुनिया की विडंबना ही है कि अधिकतर हिंदी रचनाकारों का मृत्यु के पहले सक्रिय लेखन के समय समुचित तरीके से मूल्यांकन नहीं किया जाता। प्रूफ की कई अशुद्धियों के बावजूद यह पुस्तक पठनीय है, मगर इसकी काफी अधिक कीमत (चार सौ रुपये) व्यक्तिगत खरीद में अवरोधक भी है।

आसमान का समकालीन/संपादक—चंद्रकांत देवताले एवं अन्य/शिल्पायन, 10295, लेन नं 1, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, मूल्य : ₹ 400

डी-71, निवेदिता कुंज, आर.के.पुरम, से.-10, नई दिल्ली-110022, फोन-011-26162591

कविता

रमणीय यात्रा का काव्यात्मक वृतांत

बृजेश कुमार पांडेय

'रुकावट के लिए खेद है' किरण अग्रवाल का दूसरा कविता संग्रह है, जिसमें कुल 55 कविताएं संकलित हैं। किरण अग्रवाल का यह संग्रह उनके पहले संग्रह 'गोल-गोल घूमती एक नाव' से अलग और विशिष्ट है, जो निश्चित ही शिल्प और संवेदना दोनों स्तरों पर कवयित्री की परिपक्वता को व्यक्त करता है। शीर्ष कविता रेलवे स्टेशन की किसी रिजर्वेशन विंडो पर लटकती तख्ती या दूरदर्शन पर प्रसारित एक सूचना अथवा एक चलताऊ जुमला मात्र नहीं है, बल्कि यह रुकावट इस आपाधापी के युग में दौड़ती-भागती दुनिया को एक पल ठहरकर सोचने-समझने और महसूस करने का संजीदा प्लेटफार्म है, जहां आदमी मजबूरी में ही सही इस रुकावट के दरम्यान अपनी संवेदनाओं को टटोलने के लिए समय निकाल लेता है और उसकी गहरी पड़ताल के लिए अपने मन मुताबिक जगह ढूंढ़ लेता है। यह उसके समय का नुकसान नहीं, बल्कि अत्यंत कम समय में वह अपनी मूल जड़ों से जुड़कर समय का सबसे अच्छा सदुपयोग कर पाता है।

'रुकावट के लिए खेद है' के माध्यम से जयशंकर प्रसाद की कविता 'इस तुमुल कोलाहल कलह में, मैं हृदय की बात रे मन...' की याद ताजा हो जाती है, यहां उस पात्र की संवेदना उस व्यस्त माहौल का अतिक्रमण करती हुई हृदय में पल रहे प्रेम पर विचार करने लगी है और यह कवि किरण अग्रवाल की उपलब्धि है। यहां कवि कविता के लिखने की आवश्यक तत्वों पर बड़ी गहनता और सघनता से छान-बीन करती है। यह तभी संभव है, जब रचनाकार अपने अंदर के व्यक्तित्व का प्रति पल अतिक्रमण करता है और अपने हृदय की अनुभूतियों को उस ऊंचाई तक ले जाता है, जहां उसका अपना सबका लगने लगे। वास्तव में लेखन की घनीभूत संवेदना तभी अपना रूप ले पाती है, जब अपने व्यक्तित्व को तिरोहित कर अपने 'स्व' को सबका बना लेती है और अपनी वैयक्तिकता इस ढंग से व्यक्त करती है कि वह सबकी वैयक्तिक्ता हो जाती है। कदाचित इलियट ने इसी को 'निर्वैयक्तिकता' का नाम दिया है। जब अपना सबका हो जाता है, तो ऐसे समय में ही सर्जनात्मक ऊर्जा और रचनात्मक लेखन संभव हो पाता है। इस संग्रह में इसी संवेदना से सरोकार स्थापित करती हुई कविताएं संकलित हैं। कवि के लिए लिखना, केवल कविता लिखना मात्र नहीं है, बल्कि वह अपने लेखन में खुद के व्यक्तित्व का निर्माण, अतिक्रमण और विसर्जन करती चलती है। उस व्यक्तित्व के विसर्जन से जो ऊर्जा प्राप्त होती है, उस ऊर्जा के

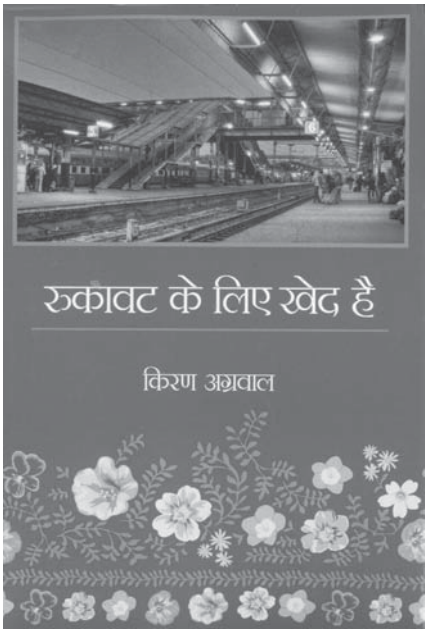

साथ नई जिंदगी जीती चलती है और इस तरह लिखने, चलने, जलने और फिर लिखने की यह सतत प्रक्रिया आदमी को एक ऐसी दुनिया का सहचर बना देती है, जिसे कवयित्री 'निर्वाण' नाम देती है—**'लिखना सिर्फ लिखना नहीं होता/लिखना होता है खुद का अतिक्रमण करना/उतार फेंकना खुद को सांप की केंचुल-सा/नई ऊर्जा के साथ जीना जिंदगी को फिर/जीना और जलना, जलना और चलना/यूं ही बीत जाना/अपने भीतर और बाहर आते-जाते/ भरते और रिक्त होते/लिखना सिर्फ लिखना नहीं होता/लिखना होता है निर्वाण।'**

इस संग्रह में कवि ने विविध अनुभवों और घटनाओं से संबंधित कविताओं को संकलित करने का प्रयास किया है, जिसके अपने अंतर्मन में सुलगती और बाहर निकलने के लिए बेचैन कविताएं तो हैं ही, साथ ही साथ इस सदी के महत्त्वपूर्ण बिंदुओं, चिंतनों, विमर्शों (यथा दलित विमर्श, स्त्री विमर्श) हिंदू मुस्लिम संप्रदायवाद, दंगे, बाबरी मस्जिद विध्वंस और धार्मिक कठमुल्लापन को भी कवि बड़े संजीदगी से व्यक्त करती है।

इस संग्रह में तमाम विविधता के साथ-साथ कवि स्थानीयता के गहरे रंग से भी अपने आपको संजोए हुए हैं, जहां पहाड़, जंगल, पहाड़ी आदमी उनके कविता के विषय बने हैं, तो जंगल का धुंधलका और बेबसी उनकी संवेदना को गहरा करती है। संवेदना की गहराई पेड़-पौधों से बने जंगलों के जंगलीपन के लिए भी उतनी ही है, जितनी सीमेंट और कंक्रीट से बने आशियानों के जंगलीपन के लिए—**'आज वह आशियाना/जंगलों की तरह फैल गया है/और जंगल सिकुड़ते जा रहे हैं/आज यह आशियाना प्रगति के नित नए तराने गा रहा है/और जंगलों के गीत खोते जा रहे हैं।** कवि इस बात पर अधिक संजीदा हो उठती है कि—**'आज वह आशियाना/बदल चुका है एक बीहड़ जंगल में/और उस बीहड़ जंगल के बीच/गमलों और गुलदानों में/रचा है आदमी ने एक बोनसाई जंगल।'** यह जंगल और पहाड़ कवि के हृदय के कितने गहरे तल में हैं, इसका अंदाजा इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है—**'मां! तुम जंगल की भांति मेरे भीतर हो/मेरे बाहर हो/मेरे चारों तरफ हो/जंगल से होकर बहती हवा हो तुम/बहती हो मेरी धमनियों में, शिराओं में।'** इस संग्रह में पिता के नाम, मां के नाम, एक दिन घने जंगल के बीच, एक नन्हा पौधा, उड़ान आदि अनेक कविताएं स्थानीयता के रंग को गहरा और चटक बनाती हैं।

और अंत में कवि पुनः उसी वास्तविकता पर पहुंचती है, जहां से उन्होंने यह यात्रा प्रारंभ की थी। जो व्यक्तित्व के प्रतिपल अतिक्रमण करते, लिखते, रिक्त होते और पुनः ऊर्जावान होकर लिखते (जिसे कवि निर्वाण नाम देती हैं) सच्ची कविता की तलाश में कविता पर कविता लिखते हुए अंतिम पृष्ठ पर पाठक से दिल की बात कहती हैं। जैसे 'रुकावट के लिए खेद है' में आदमी उस रुकावट के समय अपने दिल की बात कहता है, जिसमें दिल्लगी भरी आत्मीयता है। रुकावट में जीवन की यात्रा और खेद में मंगल कामना और मंगल गीत इस पृष्ठ पर आकर पाठक के हृदय में समा चुका होता है। उस रुकावट के दौरान कवयित्री के हृदय की बात यहां पाठक के हृदय में जगह बना चुकी होती है, जो अंतिम पृष्ठ पर आकर यों व्यक्त होती है—**'कुछ चीजें कल्पनातीत होती हैं/वे बस हो जाती हैं अपने आप/जैसे कि मेरा इस वक्त आपसे यूं बातें करना इस पृष्ठ पर/और अब/शब्दों का अतिक्रमण कर/एक अहसास में बदलना मेरा/मैं जो आपके चाहने न चाहने के बावजूद/आपके भीतर पहुंच चुकी हूं।'** अर्थात् कवि किरण अग्रवाल का यह कविता संग्रह 'रुकावट के लिए खेद है' हृदय से हृदय को मिलाने का एक उपक्रम है, जिसमें वह पूरी तरफ सफल हैं। ये कविताएं अपने व्यक्तित्व के अतिक्रमण से प्रारंभ कर पाठक के हृदय के भीतर तक पहुंचने का एक यात्रा वृतांत हैं, जिसकी कथा अत्यंत रोचक, रमणीय और काव्यात्मक है।

रुकावट के लिए खेद है/किरण अग्रवाल/प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 150

रीडर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, गांधी महाविद्यालय, उरई (जालौन), उ.प्र.-285001, मो. 9451702601, ई-मेल-Dr.brijeshpandey@yahoo.in

---

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

चार खंडों में

हिंदी साहित्य का मौखिक इतिहास

(स्मृति-संवाद)

शोध एवं संपादन

नीलाभ

मूल्य
250/- (प्रति खंड)
1000/- (चारों खंड)

एकमात्र वितरक

शिल्पायन

10295, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

कविता का दर्द : सच्चिदानंद जोशी

हितेश कुमार सिंह

आधुनिक हिंदी कविता आज पहचान के संकट से गुजर रही है। आज की कविता में वैयक्तिकता, आत्ममुग्धता, जड़ता आदि की अधिकता दिखाई देती है। ऐसे समय में सच्चिदानंद जोशी द्वारा लिखी गई कविताएं इस संकट से उबारने का मार्ग प्रशस्त करती हैं। अपने पहले कविता-संग्रह में ही जोशी जी एक विकसित कवि के रूप में सामने आते हैं। 'मध्यांतर' उनकी 51 कविताओं का एक संग्रह है।

आज का युग कृत्रिमता का युग है। शायद ही ऐसा कोई हो, जो कृत्रिमता के प्रभाव से बचा हो। लोग सच्चाई से भागने लगे हैं, उससे डरने लगे हैं। जोशी जी की कविता ('नग्नता') इस सच्चाई से सामना करने में सक्षम दिखाई देती है—

हमें न डर है वासना से, न उत्तेजना से
हमें डर है अपनी सच्चाई से
स्वयं की नग्नता से
हमें डर है।

वर्तमान युग की पीढ़ी जिस तरह से साक्षात् ईश्वररूपी मां-बाप को भूलती जा रही है, उनको अपमानित कर रही है, उनकी उचित देखभाल नहीं कर पा रही है, उससे कवि अवगत है। यही कारण है कि वह अपनी कविता 'मां' में इस बात पर जोर देता है कि मां कोई एक शब्द नहीं है कि जिसकी व्याख्या की जाए। मां शब्द किसी भी व्याख्या से परे है—

मां यानी
सिर्फ एक शब्द नहीं होता
एक संस्कृति होती है
एक संस्कार होता है
एक परंपरा और एक
पूरी की पूरी पाठशाला भी

जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाई-भतीजावाद धीरे-धीरे वर्तमान सत्य का रूप धारण करता जा रहा है। भारत को विविधताओं वाला देश कहा जाता है। यहां 'अनेकता में एकता' का पाठ पढ़ाया जाता रहा है, किंतु दुर्भाग्यवश यही विविधता आज भारत के लिए विशाल संकट पैदा कर रही है। सभी जाति, धर्म व क्षेत्र 'अपनी ढपली अपना राग' मुहावरे को चरितार्थ कर रहे हैं। इनको देश की एकता, अखंडता या उन्नति से कोई मतलब नहीं है, वे तो अपना-अपना पृथक अस्तित्व बनाने में लगे हैं। कवि ने इस युगीन सत्य को अपनी कविता 'वाक्य' में बड़ी खूबसूरती से उठाया है—

सारे वाक्य अपनी मस्ती में
भागते रहे
× × ×
अपना अस्तित्व तलाशते
यही हो रहा है आजकल
हर वाक्य अलग है

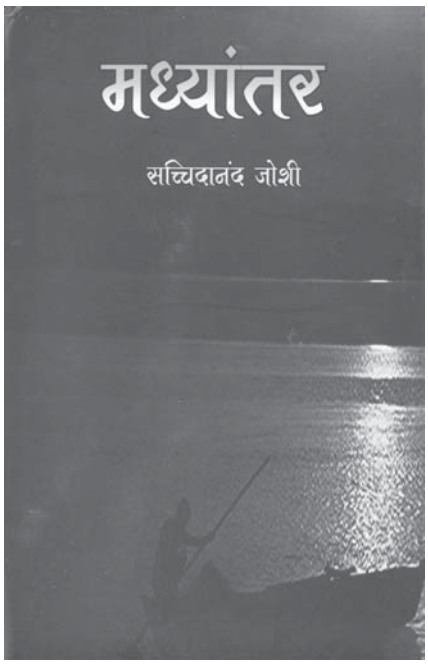

इस आपाधापी के युग में जिस तरह से नई पीढ़ी सुख के लिए लालायित है, परेशान है, उसमें धैर्य की कमी दिखाई देती है। बिना धैर्य के किसी भी क्षेत्र में सफलता शायद असंभव है। इसीलिए कवि सुख की प्राप्ति हेतु प्रतीक्षा करने को आवश्यक बताता है, क्योंकि सुख का अंकुरण दुखरूपी मिट्टी से ही होता है, और जिसके लिए धैर्य आवश्यक है—

दुख की हर पर्त के नीचे
छिपा है सुख ढेर सारा
हमारे हिस्से का
बस थोड़ी सी प्रतीक्षा

वर्तमान समय में देश भयावह परिस्थितियों से गुजर रहा है। सरकारी मशीनरी झूठे आंकड़ों से देश को चला रही है। शासन-प्रशासन भ्रष्टाचार में लगभग डूब चुका है। आतंकवाद, नक्सलवाद दिन-प्रतिदिन संक्रामक रोग की तरह अपने पैर पसारते जा रहे हैं। इतनी समस्याओं के बावजूद हम मूकदर्शक बने यह तमाशा देख रहे हैं और अपने कर्तव्य से भाग रहे हैं। इन समस्याओं के समाधान हेतु कवि आमजन का आह्वान करता है—

देश जब गुजरता है
कठिन परिस्थितियों से
तब देश के साथ जाने की बजाय
दूर से ही खड़े तमाशा देखते हैं हम
(अंडरब्रिज)

कवि की कविता-दृष्टि सहजता से सराबोर दिखाई देती है। इस भागमभाग जिंदगी में मनुष्य जिस तरह से सफलता की अंधी दौड़,

दौड़ रहा है, वह वास्तविकता से उतना ही दूर होता जा रहा है। यह अलग बात है कि वह इस दूरी को कम करने के लिए एक से एक अच्छे-अच्छे मुखौटों का प्रयोग निरंतर कर रहा है—

एक से एक शानदार
प्रभावकारी और आकर्षक
सबने पहन रखे हैं
मुखौटे ही मुखौटे।

(मुखौटे)

सच्चिदानंद जोशी की कविताएं, भूमंडलीकरण व बहुराष्ट्रीय कंपनियों से मुठभेड़ करती हुई दिखाई देती हैं। बाजारीकरण का राक्षस आमजन के सपनों को धीरे-धीरे निगलता जा रहा है और हम उसके समक्ष असहाय नजर आ रहे हैं—

निगल जाएगा ये बाजार
शहर भर को एक दिन
अपने सपनों को महल
तब किस जगह बनाओगे।

इस समय स्त्री-विमर्श का जो दौर चल रहा है, कवि उससे अछूता नहीं है। इस संग्रह की कई कविताएं स्त्रियों को केंद्र बिंदु बनाकर लिखी गई हैं। स्त्री आज भी समाज में भरपूर शोषित हो रही है। इस शोषण के लिए कवि ने शोषक से अधिक, जिसके समक्ष शोषण किया जाता है, अर्थात् जो मूक दर्शक बने घटना के चटखारे लेते हैं, उनको जिम्मेदार माना है, क्योंकि शोषण के विकास में उनका योगदान अधिक होता है—

और कपड़े के अंदर उभर रही है
निर्वस्त्र देह
द्रोपदी की नहीं
उन सबकी जो साक्षी हैं
इस चीरहरण के।

(चीरहरण)

भ्रष्टाचार का साम्राज्य जिस प्रकार से बढ़ता जा रहा है, वह बहुत ही शोचनीय है। प्रत्येक विभाग में भ्रष्टाचारियों का बोलबाला होता जा रहा है। छोटे से छोटा काम भी बिना रिश्वत के कारवाना मुश्किल है। किसी भी ईमानदार व्यक्ति की स्थिति महाभारत के अभिमन्यु सरीखी हो गई है। कवि समाज में रहने के कारण इस घटना से चिर-परिचित है और इसका प्रभाव उसकी कविताओं पर भी दिखाई देता है—

बाकी सब तमाशबीन बने
मजा लूट रहे हैं युद्ध का
आखिर कब तक लड़ेगा अभिमन्यु
कब तक आखिर कब तक?

(कब तक लड़ेगा अभिमन्यु)

सच्चिदानंद जोशी की कविताओं को पढ़कर लगता है कि वे मनुष्य को मनुष्य बनाए रखने के अभियान में लगे हुए हैं। उनकी काव्य-भाषा सहज, सरल तथा आमजन की समझ की है। वर्तमान बाजारवादी युग में कवि साहित्य, संस्कृति व कला को बचाए रखने को चट्टान की तरह खड़ा दिखाई देता है। कवि कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी किसी भी सौदेबाजी से बचते हुए समाज को निरंतर सजग करने को तत्पर है।

यद्यपि इस संग्रह की कुछ कविताएं कमजोर लगती हैं, लेकिन समग्रता में देखने पर उनके कवि में संभावना दिखती है।

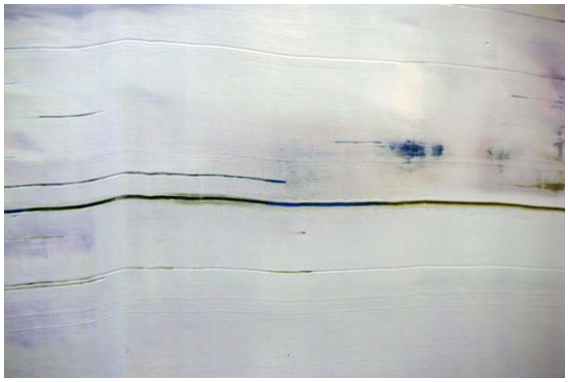

मध्यांतर/सच्चिदानंद जोशी/वचन पब्लिकेशंस, 52, तुलारामबाग, इलाहाबाद-211006/मूल्य : ₹ 150

C/o डॉ. घनश्याम सिंह/1144, भरद्वाजपुरम, (नियर ई.डब्लू.एस.कॉलोनी) अल्लापुर, इलाहाबाद, मो. 09452790210

अपील

हिंदी की साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता का लगभग 150 वर्ष का स्वर्णिम इतिहास है जिसमें सरस्वती, माधुरी, हंस, चांद तथा कहानी जैसी अनेक पत्रिकाओं ने हिंदी की रचनाशीलता को समृद्ध किया है। लघु पत्रिकाओं के माध्यम से यह क्रम आज भी चल रहा है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक तथा अनेक लघु पत्रिकाओं के प्रवेशांकों का एक संग्रहालय स्थापित किया गया है। संग्रहालय में पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के कम ही अंक उपलब्ध हो पाएं हैं। हम सभी लेखकों, साहित्यप्रेमियों से अपील करते हैं कि पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक संग्रहालय को उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें ताकि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य के विविध आयामों को शोधार्थियों के लिए उपलब्ध कराया जा सके।

संग्रहालय में रचनाओं की हस्तलिखित पांडुलिपियों, लेखकों का आपसी पत्र व्यवहार, लेखकों-पाठकों के बीच पत्र व्यवहार तथा चित्र आदि को भी संग्रहीत किया जा रहा है। सभी लेखकों, सुधी पाठकों से अपील है कि इस सामग्री को हमें उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें।

विभूति नारायण राय
कुलपति

मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का काव्य-विवेक

स्वर्ण प्रभात

रोहिताश्व की यह पुस्तक समकालीन हिंदी लेखन के एक अभाव को पूरा करने के उद्देश्य से लिखी गई है। समीक्षाएं और लेख तो आज काफी तेजी से लिखे जा रहे हैं, लेकिन आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष को लेकर एक धुंधलापन रहता है। इस धुंधलेपन को दूर करते हुए रोहिताश्व ने मार्क्सवादी आलोचना और सौंदर्यशास्त्र के सिद्धांतों का जो निरूपण किया है, उसका शास्त्रीय महत्त्व है। साथ ही, उन्होंने समकालीन हिंदी कविता (1960-2000) के एक बड़े कालखंड के महत्त्वपूर्ण, चर्चित और चर्चा से गायब हो चुके रचनाकारों की भी समीक्षा की है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि उन्होंने मुक्तिबोध के निबंधों, डॉ. नामवर सिंह के कविता के नए प्रतिमान तथा डॉ. रमेश कुंतल मेघ के ग्रंथों एवं निबंधों की चर्चा करके यह दिखा दिया है कि हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना की सैद्धांतिक जड़ें रही हैं और समर्थ आलोचकों ने अपने लेखों और ग्रंथों से उसके विभिन्न आयामों की एक पीठिका तैयार कर दी है, किंतु रोहिताश्व ने उससे बाहर जाकर सौंदर्यशास्त्र के परंपरागत तत्त्वों का भी अध्ययन प्रस्तुत किया है, जैसा डॉ. कुमार विमल ने किया था। परंपरागत सौंदर्यशास्त्र और मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र को एक ही पुस्तक की सीमा में आबद्ध करने से अकादमिक उपयोगिता निस्संदेह बढ़ गई है और शोधार्थियों-विद्वानों के लिए यह देखना आसान हो गया है कि मार्क्स ने कलात्मक सौंदर्य की जो अवधारणा दी, वह किस तरह भिन्न है।

इतने गंभीर विवेचन के लिए जिस शैली की अपेक्षा है, उसे रोहिताश्व ने स्पष्ट वाक्यों और सटीक अनुवादों से व्यवस्थित किया है, जिससे बातें समझ में ही नहीं आतीं; याद रह जाती हैं।

पहले अध्याय का यह उद्धरण देखें—समकालीनता समसामयिकता या सर्वकालिकता कविता के लिए उतनी आवश्यक शर्त नहीं है, जितना कविता का कविता होना आवश्यक है। वह उसके अंतस्तत्वों पर निर्भर है। (पृ. 9) विवेचना की यह शुरुआत उनकी चिंतनधारा को विश्वसनीय बनाती है। वे एकदम से मार्क्सवादी विचारधारा को पाठक पर लादने की कोशिश न करके वहां से शुरू करते हैं, जहां कविता के कविता होने की कलात्मक संरचनात्मक अनिवार्यता को रेखांकित किया गया है, जो टी.एस. इलियट के समय से कविता की पहचान बनी हुई है।

सौंदर्यशास्त्र की भूमिका तैयार करते

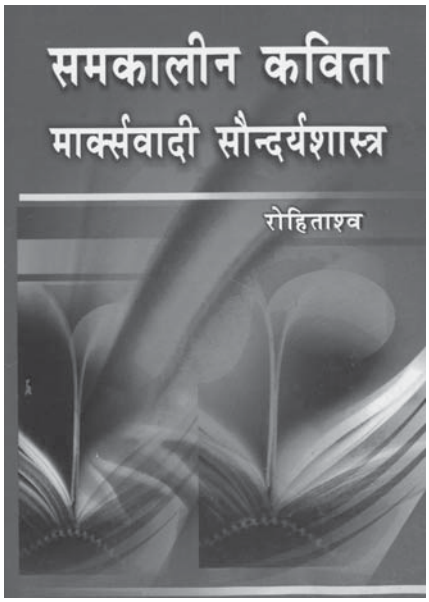

हुए वे संस्कृत वाङ्मय के अवदान को नहीं विस्मृत करते। वहां भी वे बिल्कुल सार्थक विवेचना के पहलुओं को ही लेते हैं—यथा सौंदर्य शब्द सुंदर से बनने वाली भाववाचक संज्ञा है। शब्दकल्पद्रम के अनुसार सुंदर का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है आर्द्र 'करोति चित्तमिति।' (पृ. 26) इस अत्यंत ही मर्मस्पर्शी उक्ति के बाद जब वे मार्क्सवादी व्याख्या पर जाते हैं तो दोनों ही धरातलों की सन्निकटता सौंदर्य की अनुभूति को सहज ग्राह्य बना जाती है—सामाजिक विकास के दौरान मनुष्य ने शनैः शनैः यह अनुभव किया कि वस्तु में उपयोगिता के साथ-साथ और भी कुछ रहता है और इस और भी कुछ का संबंध सौंदर्यतत्व और सौंदर्यबोध से उत्पन्न आनंद से है। मार्क्स ने कला के इस सौंदर्यतत्व को मानव जाति का ऐसा क्रियाकलाप कहा है, जिसे वह सामाजिक-ऐतिहासिक क्रियाओं के अंतर्गत आत्मोपलब्धि की दिशा में सद्प्रगति के रूप में संपन्न करता है। इस संदर्भ में गोर्की की यह मान्यता भी द्रष्टव्य है कि संसार में जो कुछ सुंदर तथा श्रेष्ठ है, वह मानव श्रम की उपज है। (पृ. 27)

सौंदर्य के पीछे जिस छद्म रहस्यमयता का वातावरण कलावादी आलोचकों ने तैयार किया था, उसी को मार्क्स ने नकार दिया और उसे आर्थिक, भौतिक और सामाजिक परिवेश की उपज माना। इस दूसरे निष्कर्ष तक पहुंचना तार्किक रूप से सहज है, किंतु मानव सभ्यता के इतिहास ने जितने मोड़ लिए हैं, उसमें इस विकास को द्वंद्वात्मकता-डायलेक्टिक्स के द्वारा ही समझा जा सकता है। रोहिताश्व की पुस्तक का मूल अंश इस डायलेक्टिक्स को विस्तार से स्थापित करता है—यूरोपीय और भारतीय

सामाजिक-सांस्कृतिक, दोनों ही संदर्भों के भीतर। वे लिखते हैं—अगर कोई रचनाकार सचेत रूप से प्रगतिशील-जनवादी दृष्टिकोण का हामी है तो उसमें यथार्थ के कलात्मक रूप से प्रतिबिंबित करने की शक्ति अनिवार्यतः कम नहीं होती, बल्कि बढ़ जाती है।...बालजक को जोला से महानतर कलाकार की स्वीकृति मार्क्स और एंगेल्स ने इसी कलात्मक तथ्य पर दी थी...अपने समय के अनेक उग्रपंथी लेखकों की तुलना में टालस्टाय को महान बतलाते हुए लेनिन ने भी इस तथ्य को स्वीकृति दी है। यह तथ्य प्रेमचंद और निराला को अनेक तथाकथित मार्क्सवादी लेखकों से महान बना देता है। (102-103)

पार्टी-प्रचार को ही साहित्य मान लेने का स्पष्ट निषेध करते हुए वे आगे लिखते हैं—श्रेष्ठ कला और साहित्य पार्टी-नीति तथा पार्टी कार्यक्रम के बजाय मार्क्सवादी चेतना और मार्क्सवादी विचारधारा को ग्रहण करते हैं। यह ग्रहण कर्म के माध्यम से अतिरिक्त विचार-इमेजों के माध्यम से होता है, जो मानवीय रागों से दीप्त होने पर ही सार्थक और सौंदर्यबोधात्मक हो सकती हैं। (104)

इतने विस्तार से इन उदाहरणों के देने का उद्देश्य यही है कि रोहिताश्व की पुस्तक को सही परिप्रेक्ष्य में पहचाना जाए। जिन सिद्धांतों-मूल्यों की उपस्थापना उन्होंने की है, वे मार्क्सवादी आलोचना के इतिहास की अद्यतन उपलब्धि हैं। अनेक विवादों से गुजरने के बाद स्थितियां ऐसी हुई हैं कि उनका इस स्पष्ट भाषा में उल्लेख किया जाए अन्यथा इसके पूर्व बातें ज्यादा दुराग्रह और ज्यादा आवेश में लिखी जाती थीं।

हिंदी कविता के परिदृश्य की ओर लौटें तो वस्तुतः तीन पूरे अध्याय उसी को समर्पित हैं, जिनमें उसकी उपलब्धियों और त्रासदी की विस्तार से चर्चा है। पहले बात त्रासदी की, इसलिए कि प्रगतिशील कविता के दौर के बाद जो प्रयोगवाद और अन्य आंदोलन चले, उन्होंने कविता की धारा को कुंठित कर दिया। कई प्रतिष्ठित कवियों ने, जिसमें से कुछ निश्चित रूप से विशिष्ट प्रतिभा संपन्न थे, अपने समर्थन में ग्रुप बनाने शुरू किए, कई प्रतिष्ठानों से पत्रिकाएं निकाली गईं, जिन्होंने प्रतिक्रियावाद को बढ़ावा दिया। रोहिताश्व ने ऐसे दिग्भ्रम उत्पन्न करने वाले कवियों में अज्ञेय से लेकर राजकमल चौधरी, श्रीकांत वर्मा से लेकर मानो गुलाटी तक के नाम गिनाए हैं, जिनके बारे में अब सर्वसम्मति बन गई है कि कुछ अच्छी रचनाओं के बावजूद इन लोगों ने कविता को अत्यंत ही आत्मकेंद्रित और शिल्पीय प्रयोग बनाकर रख दिया।

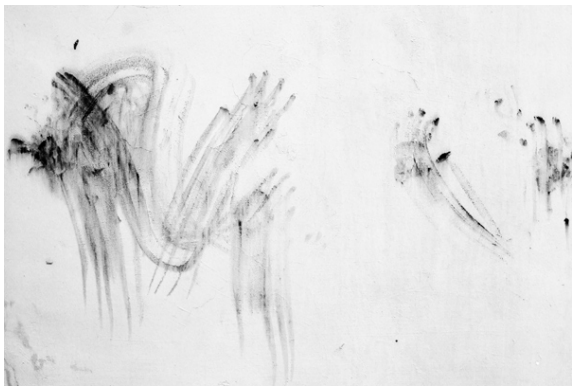

उपलब्धियों की बात करें तो रोहिताश्व ने समकालीन कविता : **द्वंद्वात्मक काव्य- परिदृश्य** शीर्षक अध्याय के पृ. 204 से 308 तक कुछ चुने हुए कवियों पर आलोचनात्मक टिप्पणियां लिखीं हैं, जो मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्रीय कसौटी की व्यावहारिकता के प्रमाण हैं। नागार्जुन की प्रसिद्ध कविताओं से काफी उदाहरण उन्होंने दिए हैं, लेकिन कुछ ऐसी पंक्तियों को भी उद्धृत किया है, जो उतनी परिचित नहीं हैं—

कर गई चाक/तिमिर का सीना
जोत की फांक/वह तुम थीं...

और इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि नागार्जुन के निजी जीवन प्रसंगों पर रची अनेक आत्मीय कविताएं भारतीय जनमानस के रोजमर्रा जीवन की अनुभूति कविताएं हो सकती हैं। (206)

शमशेर की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि शमशेर वैविध्यमय जीवन के तत्त्वों और सकारात्मक पहलुओं को आत्मसात् करते हुए पूर्ववर्ती परंपरा में जहां एक ओर निराला के माध्यम से तुलसी, कबीर और अन्य संत कवियों सहित हिंदी की समूची काव्यपरंपरा का सार्थक जीवनसंघर्षी सौंदर्यबोधी दाय ग्रहण कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर हाली, गालिब और नजीर की उर्दू-परंपरा का खास रंग और विशेष मिजाज भी। (210-11) मुझे यह सिर्फ एक टिप्पणी नहीं लगती, बल्कि यह तो भविष्य का शोध-निर्देश है, जिसके आधार पर शमशेर में हिंदी और उर्दू परंपराओं के तत्त्वों का अनुसंधान किया जा सकता है।

ऐसी ही सारगर्भित टिप्पणियों से केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, भवानी प्रसाद मिश्र, धूमिल, आलोक धन्वा, मनमोहन समेत कई अन्य कवियों पर छोटे-छोटे नोट लिखे गए हैं। खासकर कुछ नई और बिल्कुल ही सार्थक थीम, जो इन कवियों ने चुनी हैं, उनकी गहराई से समीक्षा की गई है—जैसे अरुण कमल, मनमोहन और स्वयं रोहिताश्व के पितृस्नेह को प्रकाशित करने वाली कविताएं, नागार्जुन के दांपत्य प्रेम से जुड़े प्रसंगों की कविताएं या फिर प्रकृति के कुछ अत्यंत ही रोमांचक दृश्यों को लेकर लिखी गई रचनाएं। मार्क्सवाद प्रोपेगेंडा नहीं, गहरी मानवीय अनुभूतियों और समाजोपयोगी विचारधारा को प्रश्रय देता है।

वस्तु-रूप एवं भाषाशैली संबंधी परिदृश्य शीर्षक अध्याय में फार्म और कंटेंट पर शास्त्रीय ढंग से विचार करने के उपरांत रोहिताश्व ने नई शैलियों में से एक-एक को चिह्नित किया है और उनकी कवि के टेंपरामेंट से संगति को रेखांकित किया है—जैसे मुक्तिबोध की लंबी कविताएं, त्रिलोचन के सॉनेट, शमशेर की ग़ज़ल, नागार्जुन के छंद-प्रयोग, नचिकेता के गीत। इसके साथ ही बिंब-विधान में होने वाले परिवर्तन को भी उन्होंने सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों से जोड़कर देखा है।

सारांशतः इस पुस्तक को समकालीन कविता के अंतर्निहित संघर्ष और शिल्पीय प्रयोग के प्रामाणिक आकलन के रूप में तो देखा ही जाना चाहिए; जिन मानकों की स्थापना इस क्रम में रोहिताश्व ने की है, वे कविता मात्र के मानक हैं, उनके बिना कविता की सही समझ नहीं हो सकती।

समकालीन कविता : मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र/ रोहिताश्व / अकादमिक प्रतिभा, 42, एकता अपार्टमेंट्स, गीता कॉलोनी, दिल्ली-110031, मूल्य : ₹ 950

रीडर, अंग्रेजी विभाग, नालंदा कॉलेज, बिहार शरीफ, नालंदा-803101, मो. 09334137989

साहित्य चिंतन-परंपरा की एक कड़ी

मनोज पांडेय

अज्ञेय संपादित समीक्ष्य कृति 'आधुनिक हिंदी साहित्य' साहित्य की चिंतन-परंपरा में एक ऐसी कड़ी है, जिसका प्रकाशन 1940 में हुआ था, किंतु इसमें व्यक्त विचार आज भी प्रासंगिक है। कारण यह कि इसमें आधुनिक हिंदी साहित्य के बुनियादी प्रश्नों पर गंभीर चिंतन मिलता है। मसलन कविता क्या है, साहित्य की कसौटी क्या है, कथा-कहानी क्यों लिखी जाती है? साहित्य और जीवन का क्या संबंध है? इत्यादि पर यहां युगानुकूल चिंतन हुआ है। अज्ञेय के शब्दों में कहें तो 'हमारी आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि आधुनिक हिंदी साहित्य की गतिविधि का एक सिंहावलोकन किया जाए, साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियां पहचानी और समझी जाएं, उनके आत्यंतिक महत्त्व का मूल्यांकन किया जाए और उसके आधार पर भविष्य के लिए कुछ मार्ग निर्देश प्राप्त किया जाए। इतना ही नहीं जिन रूढ़ियों और विश्वासों, जिन शास्त्रीय मान्यताओं के आधार पर हम अब तक मूल्यांकन करने के अभ्यस्त रहे हैं, उन मान्यताओं को भी नवीन युग की आवश्यकताओं और विशेषताओं पर परखने की अत्यंत आवश्यकता है।' कहना न होगा कि यह आवश्यकता महज सन् चालीस की नहीं थी, बल्कि आज की भी है।

अज्ञेय एक कुशल संपादक रहे हैं। उनके संपादन की एक अद्वितीय विशेषता यह है कि वे विभिन्न विचारधाराओं के साहित्यिकों को एक कलेवर में साहित्य के बुनियादी सरोकारों पर चिंतन के लिए एकत्र करते रहे हैं। बहुधा ऐसे लेखक भी अज्ञेय के संपादनों में मिलते हैं, जिनसे उनका घोषित मतांतर रहा है। यहां भी वही स्थिति है। हजारी प्रसाद द्विवेदी, शिवदानसिंह चौहान, नगेंद्र, भगवती प्रसाद वाजपेयी, प्रभाकर माचवे, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, उदयशंकर भट्ट जैसे शीर्षस्थ विचारक, साहित्यिकों का एक साथ एकत्रित चिंतन अज्ञेय की संपादन कला की सफलता है और ग्रंथ की उपादेयता।

गौरतलब है कि यहां हिंदी आलोचना की सैद्धांतिकी पर गहन चिंतन भी हुआ है और जीवन एवं साहित्य के संबंधों की पड़ताल के साथ विविध विधाओं का विवेचन-मूल्यांकन भी। आलोचना की सात्विकता का सवाल पहले ही निबंध 'समालोचना और कविता के क्षेत्र' के अंतर्गत उठाया गया है और उपयुक्त ही कहा गया है, 'सात्विक आलोचना वह होती है, जिसमें पाठक को आलोचक के मूल्यों अथवा मानदंडों और आलोचित कवि अथवा कलाकार के मूल्यों अथवा मानदंडों का भेद और द्वंद्व स्पष्ट रूप से दीख जाए और फिर पाठक को स्वयं निर्णय करने दिया जाए कि

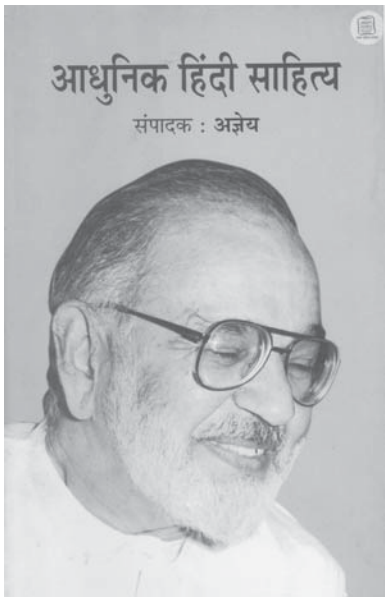

कौन से मान श्रेष्ठ हैं।' जाहिर है इसके लिए आलोचक को अच्छा भावक बनना होगा। इसीलिए निबंधकार श्री भणोतजी ने यह मांग की है कि, 'आलोचक अपनी अनुभूति-सामर्थ्य को भली प्रकार विकसित करें।' काव्यमय पद्य को ही कविता (Poetic verse is poetry) मानने वाले श्री भणोत का कहना है कि कविता की यही सार्थक परिभाषा हो सकती है। आलोचक का यह धर्म है कि वह कविता की काव्यात्मकता की तलाश करे और यह इंगित करने का प्रयास करे कि 'एक कविता क्या कर सकती है' न की यह कि 'एक कविता को क्या करना चाहिए'।

कुछ ऐसे ही विचार साहित्य की कसौटी बताते हुए जैनेंद्र कुमार भी व्यक्त करते हैं। किस्सागोई के अंदाज में सर्राफ और जौहरी का हवाला देते हुए जैनेंद्रजी बताते हैं 'कसौटी का काम है स्वर्ण के खरे-खोटे होने का निर्धारण करना अर्थात वस्तु के वास्तविक गुण का बोध कराना।' सर्राफ को मात्र इतने से मतलब होता है, जबकि जौहरी सोने के आभूषण की कीमत लगाता है। साहित्य के संबंध में जैनेंद्रजी लिखते हैं 'साहित्य की कसौटी वह संस्कारशीलता है, जो हृदय का मेल चाहती है और एकता में निष्ठा रखती है। सहृदय का चित्त मुदित करता है, वह साहित्य खरा, संकुचित करता है वह खोटा।' अर्थात व्यक्ति को संकीर्णता के बंधन से मुक्त करना ही साहित्य का काम है और वास्तव में यही साहित्य की सच्ची कसौटी है।

साहित्य और जीवन के संबंधों की पड़ताल करते हुए संपादक अज्ञेय आलोचना का दायित्व गुण-दोष विवेचन से अधिक निरूपित करते हैं। वे मानते हैं कि आलोचना का मुख्य कार्य है रचयिता के मन की परख।

उनके शब्दों में, ''जो आलोचना गुण-दोष विवेचन से आगे नहीं बढ़ती, उसको लांघकर रचयिता के मन को नहीं परखती, वह आलोचना निस्सार है, बंध्या है।'' और रचयिता के मन की परख के लिए वे यह आवश्यक मानते हैं कि अपनी परिवृत्ति के साथ उसका संबंध कैसा है? यथार्थ के प्रति उसका रवैया कैसा है अर्थात् उसका जीवन बोध कैसा है? 'परिस्थिति और साहित्यकार' शीर्षक अपने निबंध में अज्ञेय ने आज के साहित्य को अतृप्ति का, लालसा का या इच्छित विश्वास का साहित्य कहा है। इसे आवश्यक मानते हुए वे लिखते हैं, ''अतृप्ति का अनुभव तो निस्संदेह प्रत्येक अच्छे लेखक को होना ही चाहिए, बल्कि यदि आधुनिक लेखक में इस मांग की संपूर्ण अनुपस्थिति दीख पड़े तो उसी के बारे में शंकित होना चाहिए, क्योंकि इस अनुपस्थिति से यह अनुमान कर लेना स्वाभाविक है कि उस लेखक ने या तो आज के अर्थ पिशाचों के स्वार्थों के साथ अपने को मिला लिया है या अपने को किसी पंडिताऊ दल के किसी संकुचित दायरे का कूप-मंडूक बना लिया है या गुटबंदियों में उलझा लिया है।' इस मत के आधार पर ही उनका निष्कर्ष है, ''साधारण रूप से यह समझ लेना चाहिए कि परंपरा को जांचने-परखने की वृत्ति, जीवन के प्रति सतर्कता उसमें बिल्कुल नहीं है।'' श्री अज्ञेय अपनी इन्हीं मान्यताओं के आधार पर आधुनिक साहित्य को देखते हैं, देखने की पेशकश करते हैं।

विवेच्य निबंध के अंतर्गत ही अज्ञेयजी अपनी स्थापनाओं को यथार्थवादी, जनोन्मुखी उपन्यासकार प्रेमचंद पर भी उसी भांति लागू करते हैं, जिस प्रकार जैनेंद्र पर। कहना न होगा, यहां अज्ञेयजी चूक करते हैं। इच्छित विश्वास या अतृप्ति का भाव जैसा जैनेंद्र के यहां है, वैसा न तो प्रेमचंद का अभीष्ट रहा है और न ही उनके यहां प्राप्त है। कहने का आशय यह है कि अज्ञेयजी का विचार आत्यंतिक महत्त्व का होते हुए भी एक ही तुला पर, एक जैसे मानदंडों से प्रेमचंद और जैनेंद्र दोनों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

आधुनिक काव्य की सर्वाधिक सशक्त विधाएं हैं, कथा-कहानी और उपन्यास। इनके रचना-विधान पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रभाकर माचवे और भगवती प्रसाद वाजपेयी के निबंध रोचक और ज्ञानवर्धक हैं। आचार्य द्विवेदी ने कथा परंपरा की ऐतिहासिकता की छानबीन करते हुए बताया है कि इस नवीन रचना-विधान का सबसे बड़ा गुण है इसकी प्राणवत्ता। प्राचीन संस्कृतकाल और आधुनिक हिंदी के पूर्व लोकभाषा साहित्य का हवाला देते हुए वे कहते हैं, ''यह गलत धारणा है कि उपन्यास और कहानियां संस्कृत की कथा और आख्यायिकाओं की सीधी संतान हैं। एक युग गया है, जब कादंबरी और दशकुमार चरित की रीति पर सभी प्रांतीय भाषाओं में उपन्यास लिखे गए थे। कहीं-कहीं तो उपन्यास का पर्यायवाची शब्द ही कादंबरी है।...पर शीघ्र ही सर्वत्र यह भ्रम टूट गया।'' बेशक उपन्यास-कहानी आधुनिक गद्य युग की उपज हैं। यंत्र युग की मुख्य देन वैयक्तिक स्वाधीनता उपन्यास का आदर्श है, जबकि परंपरा समर्थित सदाचार कथा-आख्यायिका का आदर्श था। उपन्यास को द्विवेदीजी आधुनिक साहित्य की सर्वाधिक सशक्त विधा मानते हैं और उसका स्थायी महत्त्व स्वीकारते हैं। मानवतावादी दृष्टिकोण से इसे देखते हैं, इसीलिए वे उसे उपन्यासकार मानते ही नहीं, जिसमें वैयक्तिक दृष्टिकोण न हो, मानवता के कल्याण के भाव उसकी कृति में निहित न हों।

उपन्यास की भावधारा दिखाते हुए भगवती प्रसाद वाजपेयी कथा साहित्य के व्यापक फलक का दर्शन कराते हैं। उनके लेखे 'कथा साहित्य यदि जीवन की अभिव्यंजना में जागरूक न हो, यदि वह मानवता का चिर जाग्रत रूप प्रदर्शित न करे तो हम उसे और चाहे जो कुछ कहें, साहित्य नहीं कह सकते।'

आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन को लेकर संकलित निबंधों में उपन्यास, कहानी, नाटक और कविता की उपलब्धियों का विस्तृत परिचय यहां मिलता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निबंध है चंद्रगुप्त विद्यालंकार का 'प्रेमचंद की देन'। यहां कथा साम्राट मुंशी प्रेमचंद के समूचे कृतित्व का मूल्यांकन ध्येय रहा है, पर जैसा कि लेखक ने स्वयं कहा है, 'नाटककार के रूप में प्रेमचंदजी को कतई सफलता नहीं मिली' सर्वांशतः सच है। प्रेमचंद के विचारक और कथाकार रूप के समक्ष नाटककार रूप नितांत गौण है। इसलिए मूल्यांकन की दृष्टि से उपेक्षणीय भी है।

प्रेमचंद प्रगतिशील चिंतक और सर्जक थे। उनके औपन्यासिक अवदान की चर्चा करते हुए निबंधकार ने सच कहा है, ''प्रेमचंदजी ने अपने संपूर्ण साहित्यिक जीवन में दो अमर पात्रों की रचना की है, जिनकी छाप विश्व साहित्य पर अमिट रूप से रहेगी। ये दोनों पात्र हैं, 'रंगभूमि का सूरदास' और 'गोदान का होरी'। एक अंधा, भिखमंगा बाबा और दूसरा एक दरिद्र किसान, परंतु ये दोनों व्यक्ति भारतवर्ष के वास्तविक प्रतिनिधि हैं।' निश्चय ही प्रेमचंद ने इन दोनों पात्रों के द्वारा भारतवर्ष की आत्मा की अभिव्यक्ति की है। इसी प्रकार उनकी 'कफन' कहानी हिंदी साहित्य की महानतम उपलब्धि है। प्रेमचंद की यदि शेष रचनाओं को छोड़ भी दें तो मात्र इन दो रचनाओं 'गोदान' और 'कफन' के कारण वे समूचे हिंदी भाषा और साहित्य के अद्वितीय रचनाकार माने जा सकते हैं।

छायावाद के सुधी आलोचक नगेंद्रजी का हिंदी कविता की नवीनतम प्रगति के बहाने प्रगतिवाद पर लिखा गया निबंध गवेषणात्मक है। नगेंद्रजी की मान्यता है कि आधुनिक भारतीय इतिहास में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएं एक साथ और कमोबेश एक ही प्रभावपुंज से घटीं। एक घटना राजनीति के क्षेत्र में घटी, जिसने देश को स्वाधीनता की ओर अग्रसर किया और दूसरी साहित्य में घटी, जिसमें स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह जाहिर हुआ। डॉ. नगेंद्र की शब्दावली में, ''राजनीति में जिन प्रवृत्तियों ने गांधीवाद को जन्म दिया, करीब-करीब वैसी ही प्रवृत्तियों द्वारा साहित्य में छायावाद का प्रादुर्भाव हुआ। दोनों की मूलवर्तिनी भावना एक है—स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह अर्थात् स्थूल से हटकर सूक्ष्म की ओर बढ़ना और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना।'' नगेंद्रजी प्रगतिवाद को छायावाद के सूक्ष्म के विरुद्ध स्थूल की प्रतिक्रिया मानते हैं। परन्तु छिपा नहीं पाते। देखें, ''छायावाद के सांकेतिक रूप चित्रण के स्थान पर उसने मांस के शरीर का अंकन किया। उसके काव्य में यद्यपि राष्ट्रीय भावना का अभाव नहीं, परंतु प्रभावना सेक्स की ही है।'' यहां आलोचक का द्वैध स्वतः जाहिर होता है। इस लेख की उपलब्धि है आलोचक का यह कथन कि ''निराला छायावाद और प्रगतिवाद के बीच की कड़ी हैं। उनमें प्रारंभ से ही छायावाद की नारी-कला और प्रगति का पौरुष वर्तमान रहा

है।'' युग के वात्याचक्र में नगेंद्रजी की यह राय चिंतन के नए धरातल की तरफ इशारा करती है।

डॉ. शिवदान सिंह चौहान का निबंध पूरी तरह से छायावाद को पूंजीवाद की उपज साबित करने के श्रम पर केंद्रित है। चौहान साहब प्रगतिवादी दृष्टि संपन्न आलोचक हैं। छायावादकालीन परिस्थितियों का सम्यक् विश्लेषण उन्होंने किया है, किंतु अपने अतिरिक्त आग्रहों के चलते वे सारी ऊर्जा पूंजीवाद की विडंबनाओं की तलाश में व्यय कर देते हैं। कदाचित् ऐसा नहीं होता और छायावाद की कमियों या खूबियों मात्र को ही यदि उजागर किया गया होता तो यह निबंध समीक्ष्य ग्रंथ की एक उपलब्धि होता। चौहान साहब मानते हैं कि छायावादी कविता पूंजीवाद की उपज है। वे पूंजीवादी संस्कार ही हैं, जिन्होंने छायावादी कविता को अहंग्रस्त, आत्मलीन और दार्शनिक बना दिया है। चौहान साहब की राय में ''छायावादी कवि प्रारंभ में एक क्रांतिकारी के रूप में अवतरित हुआ। उसने कविता को सामंती बंधनों से मुक्त कर दिया, किंतु पूंजीवादी मनोवृत्ति होने के कारण वह नवीन समाज (पूंजीवादी समाज) के संश्लिष्ट बंधनों की कल्पना न कर पाया।''

अलावा इसके, भगवतीचरण वर्मा का अनुभूतिपरक निबंध 'मैं और मेरा युग' तथा परिशिष्ट एक के अंतर्गत श्रीमती होमवती देवी का वक्तव्य हिंदी साहित्य की चिंताधारा से परिचित कराते हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि समीक्ष्य कृति का अज्ञेय जन्मशती के अवसर पर प्रकाशन कृति और कृति संपादक के महत्त्व को तो उजागर करता ही है तद्युगीन साहित्य चिंतन परंपरा से भी अवगत कराता है। जैसा कि श्री अज्ञेय के हवाले से शुरू में ही कहा जा चुका है कि इस कृति में उठाए गए सवाल तात्कालिक नहीं है, आज भी उन पर चिंतन की दरकार यथावत् बनी हुई है।

आधुनिक हिंदी साहित्य/अज्ञेय/सस्ता साहित्य मंडल, एन-77, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001, मूल्य : ₹ 200

रविंद्र नगर, (प्रताप नगर), नागपुर-22,
मो. 09595239781

आलोचना

शोध के बहाने मैला आंचल की समाजशास्त्रीय पड़ताल

प्रेम शशांक

समीक्ष्य पुस्तक 'साहित्य का समाजशास्त्र और मैला आंचल' जीतेंद्र वर्मा के शोध का प्रकाशन है। हमारे विश्वविद्यालयों में शोध के विषय को लेकर सजगता में बदलाव देखा जा सकता है, लेकिन उसकी रूपरेखा के वितंडे में कोई बदलाव नहीं हुआ है। इसे विश्वविद्यालयीन प्राध्यापकों की जड़ता और शोध के प्रति उनकी अभिरुचि की गिरावट से जोड़कर देखा जा सकता है। शोध की प्रक्रिया भी डिग्री लेने की औपचारिकता से ज्यादा नहीं होती है। इसलिए शोधार्थी के लिए शोध एक अदद नौकरी पाने के लक्ष्य से जुड़ा होता है और निर्देशक के लिए रूटीन का काम है। विषय कोई भी हो, लेकिन उससे जिस तरह अन्य पुस्तकों के संदर्भों और उदाहरणों से घेरा जाता है, वो शोध का खासा उबाऊ और वाहियात पक्ष है। शोध की संरचना ही वहां महत्त्वपूर्ण होती है और बाकी उसमें फिट करने का काम ही रह जाता है। सिनाप्सिस इस काम में काफी मददगार साबित होती है। इसे शोध के आधे काम के बराबर समझा जाता है। संभवतः इसी संदर्भ में प्राध्यापकीय आलोचना का मुहावरा प्रचलन में आया होगा, क्योंकि संरचना की शास्त्रीयता ही वहां प्रमुख हो जाती है, जहां अच्छे-से-अच्छा विषय भी दम तोड़ता नजर आता है। अधिकतर शोधों की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है और समीक्ष्य शोध भी इसी फ्रेम में रखा जा सकता है। इसके लिए शोधार्थी को कतई दोषी नहीं ठहराया जा सकता, लेकिन शोध निर्देशकों को इस उत्तरदायित्व से कतई बरी नहीं किया जा सकता।

भारतीय उपन्यास के संदर्भ में निश्चय ही 'मैला आंचल' का स्पेस असंदिग्ध है। समकालीन आलोचना परिदृश्य में जिस तरह उपन्यास को आंचलिक कहकर प्रतिष्ठित करने की कोशिश नजर आती है, उससे तो इसका अवमूल्यन ही अधिक हुआ है, क्योंकि मामला भाषा के पिंजरे से आगे बढ़ने ही नहीं दिया गया। इसलिए इस उपन्यास पर जितने शोध हों, कम है। औपन्यासिक संरचना में यह उपन्यास जिस तरह राष्ट्रीय रूपक रचता है, विमर्श और विश्लेषण की अपार संभावनाएं इसके भीतर छिपी हुई हैं, बल्कि आज के औपन्यासिक परिदृश्य में कसौटी के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। 'मैला आंचल' आंचलिक उपन्यास नहीं है। यह तो जीतेंद्र भी स्वीकारते हैं, बल्कि वह इस संदर्भ में रेणु के दर्द को भी सामने लाते हैं, ''यद्यपि इसे पहले पहल आंचलिक कहने का 'दुष्कर्म', यह पाप भी मैंने ही किया, जब 'मैला आंचल' मैंने लिखा और जब उसका भीतर का टाइटल

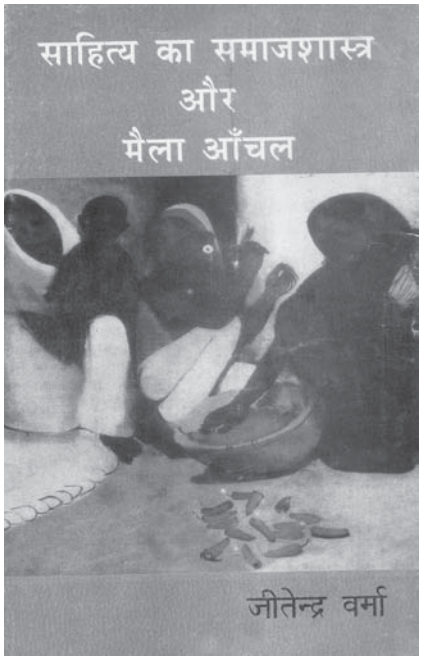

छपने को जा रहा था, तब मैंने लिखा 'मैला आंचल' और फिर उसके नीचे लिख दिया 'एक आंचलिक उपन्यास' (पृ. 65), लेकिन लेखकीय दर्द के पीछे से आलोचना की गतानुगतिका वाली जड़ता साफ नजर आती है। मैला आंचल की सबसे बड़ी खूबी यह है कि यह एक अंचल की कहानी कहते हुए भी राष्ट्रीय रूपक रचता है। इसके चरित्र भले ही स्थानीय भूमिका में हों, लेकिन वैचारिक कसौटी पर उनकी दैनिक गतिविधियों के संदर्भ राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखे जा सकते हैं।

आलोचना के परिदृश्य में कृति केंद्रित सीमित समीक्षा पर जोर दिया जा रहा था और उसके समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक संदर्भों में न देखने की बात जोर-शोर से उठाई जा रही थी अर्थात् कृति के आंतरिक सौंदर्य को उभारने पर बहुत जोर दिया जा रहा था। समीक्ष्य शोध में औपन्यासिक कृतियों के संदर्भ में समाजशास्त्रीय-अध्ययन की मांग भी कमजोर नहीं कही जा सकती। इसके लिए जीतेंद्र कई पूर्व शोधों की ओर ध्यान खींचते हैं। जैसे 1965 में चंडी प्रसाद जोशी की पुस्तक 'हिंदी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन', 1975 में स्वर्ण लता की पुस्तक 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि', सन् 1984 में मोहम्मद फरीदुद्दीन की पुस्तक 'राही मासूम रजा के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन', सन् 2000 में जयप्रकाश कर्दम की पुस्तक 'श्रीलाल शुक्ल कृत रागदरबारी का समाज शास्त्रीय अध्ययन' (पृ. 45)। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि विश्वविद्यालयों के स्तर पर उपन्यास के समाजशास्त्रीय अध्ययन के पक्ष को बराबर सराहा गया और शोध के स्तर पर उपन्यास के आकलन में आंतरिक सौंदर्य-बोध को पुरजोर ढंग से नकारा गया। साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए प्रख्यात आलोचक नामवर सिंह का संघर्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके बाद मैनेजर पांडेय की महत्त्वपूर्ण पुस्तक सामने आती है, जिसका उल्लेख जीतेंद्र अपने शोध में स्पष्ट स्वीकारते हैं, बल्कि डॉ. पांडेय इस जरूरत को अपनी अगली पुस्तक 'साहित्य की सामाजिकता' में भी उठाते हैं।

उपन्यास के वर्तमान परिदृश्य में 'मैला आंचल' उस नक्षत्र की तरह है, जिसकी चमक आज भी बरकरार है, क्योंकि उपन्यास विधा में

ही यह खूबी है कि वह मनुष्य के जीवन को चुनौतियों की कसौटी पर खरा उतर जाने दे, लेकिन आज उत्तरआधुनिकता की शब्दावली उतनी ही गैरजरूरी ढंग से प्रयोग में लाई जा रही है। 'मैला आंचल' को विधा का प्रस्थान बिंदु मानते हुए जब इस विधा के विकास की बात की जाती है तो वह बेहद चलताऊ किस्म की होती है, उसके पीछे सीधा-सा कारण है कि आज के परिदृश्य में उपन्यास में उस ढंग से समाज चित्रित नहीं हो पा रहा है। यह जरूरत लेखन के स्तर पर ही नहीं, पाठ के स्तर पर भी शिद्दत से महसूस की जा रही है। खासकर राजनीतिक परिदृश्य उस ढंग से आ ही नहीं पा रहा है। संभवतः लेखक के संघर्ष में ही कोई कमी रह जाती है। सामाजिक यथार्थ से वह जुड़ाव महसूस ही नहीं होता। किसी-न-किसी स्तर पर कमी रह ही जाती है। जीतेंद्र भी इस बात को कहते हैं, ''रेणु अपने समय समाज और जीवन का चित्रण करने वाले सजग कथा-शिल्पी थे।'' (पृ. 63) सन् 1975 में देश में आपातकाल लागू हुआ। रेणु ने इसका बड़ा विरोध किया। जय प्रकाश नारायण के नेतृत्व में चलने वाले संपूर्ण क्रांति आंदोलन में इन्होंने खुलकर हिस्सा लिया। इन्होंने आपातकाल का विरोध न केवल लेखन-भाषण से किया, बल्कि इसके विरोध में वे सड़कों पर भी उतरे। आपातकाल के विरोध में अपने इलाके के प्रदर्शन का नेतृत्व करते हुए गिरफ्तार हुए (पृ. 55)। इसीलिए उनके चरित्र, उनकी गतिविधियां, उनके जीवन-चित्र जीवंत लगते हैं। वर्तमान परिदृश्य में कथाकारों को घर-घुसरा कहा जा सकता है। वे सीधे संघर्ष से बचते हैं। यदि कहीं सक्रिय विरोध करते भी हैं तो वह बहुत निजी स्तर पर स्वार्थों के तहत होता है, जिसका जन-साधारण से कोई सरोकार नहीं होता। यही कारण है कि उनके लेखन में/कृतियों में वैसी जीवंतता नहीं आ पाती। हिंदी के लेखकों में प्रत्यक्ष संघर्ष के अभाव में वे समाज से कटते जा रहे हैं। सिर्फ पुरस्कारों के बल पर टिके रहना चाहते हैं। ''समाजशास्त्रियों के बीच उपन्यास सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। इसके कुछ ठोस कारण हैं। साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में उपन्यास समाजशास्त्रीय-विश्लेषण के लिए अधिक उपयुक्त है (पृ. 110)।''

समीक्ष्य शोध से यही स्पष्ट होता है कि उपन्यास जीवन का ही महाकाव्य नहीं है, बल्कि समाजशास्त्रीय-विवेचन के लिहाज से भी उपयुक्त विधा है। इस कसौटी पर इस विधा के मूल्यांकन की प्रक्रिया जारी रहने के लिए जरूरी है कि उपन्यासकार अपने समय-समाज की गतिविधियों/संघर्ष से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े, जिससे समाज का चरित्र-निर्माण सम्यक रूप से हो सके।

साहित्य का समाजशास्त्र और मैला आंचल/जीतेंद्र वर्मा/ पुस्तक भवन, नई दिल्ली, मूल्य : ₹ 150

किसान सहकारी चीन मिल्स लि., सेमीखेड़ा, बरेली-243203 (उ.प्र.), मो. 09259774177

केदार सम्मान के कवि

राकेश बहादुर सिंह

'केदार सम्मान के कवि' की रचनाएं पढ़कर यह स्पष्ट भान होता है कि यह कविताएं भले ही एक धारा की हैं, लेकिन एक ही लंबी कविता के हिस्से नहीं हैं; इस कविता संग्रह के कवियों ने अपनी बात इस ढंग से कही है कि उनकी बात सीधे तल तक पहुंच जाए, लेकिन अलग से यह पता न चले कि उनकी बात इतनी असरदार कैसे बन गई; इस संग्रह की रचनाओं में कवि हँसता-बोलता, खीझता-चिढ़ाता हुआ बार-बार दिखाई देता है, साथ ही दीन-दुनिया की हर बात से खबरदार हो और अपने मन में उठने वाले किसी भी विचार को बेखटके कह सकता हो तथा कवि किसी भी तरह की कुंठा या हिचकिचाहट से दूर होकर अपनी बात कहता है। इस संग्रह के कवियों की यह समवेत विशेषता है।

यह उल्लेखनीय है कि एक ही पुरस्कार (सम्मान) से सम्मानित 14 लब्ध प्रतिष्ठित कवियों की कविताओं का संकलन हिंदुस्तानी एकेडमी द्वारा प्रकाशित किया जाना एक सराहनीय एवं संभवतः प्रथम स्तुत्य प्रयास है, संपादकत्रयी श्री नरेंद्र पुंडरीक, सिद्धार्थ शंकर त्रिपाठी एवं प्रकाश त्रिपाठी इस प्रयास के लिए कविता प्रेमी पाठकों की तरफ से धन्यवाद के पात्र हैं। लीक से हटकर पुस्तकों को प्रकाशित करना एकेडमी की गौरवशाली परंपरा को दर्शाता है। आज जब कविता विधा अनेक धाराओं में प्रवाहित हो रही है, ऐसे में संपादकत्रयी द्वारा प्रयाग की गौरवशाली परंपरा एवं त्रिवेणी में अनेक नदियों की जलरूपी कविताओं को संकलित कर एक साथ प्रकाशित कर सराहनीय कार्य किया गया है।

इस संग्रह की रचनाओं में कवियों ने सबसे पहले प्रकृति पर दृष्टिपात किया, अपनी यथार्थवादिता का प्रमाण 'ग्राम्य प्रकृति' के यथार्थरूप के अंकन में दिया। नासिर अहमद सिकंदर की कविता 'घास थी इसलिए' में कवि कहता है—

इसलिए थे खेत खलिहान
इसलिए थे घासफूस के घर
इसलिए था गांव।

एकांत श्रीवास्तव की कविता 'अन्न' में—

हमेशा-हमेशा
अपने दूधियापन से
जगर-मगर करते गांव का मन।

इसी तरह एकांत श्रीवास्तव की एक अन्य कविता 'सिला बीनती लड़कियां' में भी ग्राम्यता का स्पष्ट दर्शन होता है। 'महान कवि' शीर्षक कविता में भी अनिल कुमार सिंह गांव को नहीं भूलते।

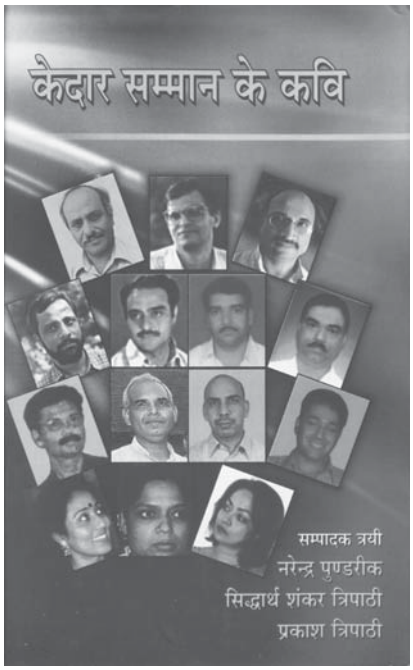

इस संग्रह की कविताओं में 'आंचलिकता' के दर्शन भी सहज ही परिलक्षित होते हैं। हरीशचद्र पांडे की रचना 'पहाड़ में औरत' तथा नीलेश रघुवंशी की कविता 'जीवन' एवं बद्रीनारायण की कविता 'शबरी का गीत' में अंचल की महक प्रस्फुटित होती है।

प्रगतिशील कविता के शीर्ष पुराधाओं, निराला, मुक्तिबोध, नागार्जुन एवं केदारनाथ अग्रवाल की रचनाओं का पुनर्जन्म इस संकलन की रचनाओं में स्वतः स्पष्ट है। आशुतोष दुबे की कविता 'सर्गारंभ' एवं गगन गिल की कविता 'यहां देखो' मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्मराक्षस' की याद दिलाती है। इसी प्रकार नीलेश रघुवंशी की कविता 'कभी न शामिल हों' मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' के जुलूस की याद दिलाती है। बादल, छिपकली आदि पर की कविताएं नागार्जुन की याद दिलाती हैं।

धर्म निरपेक्षता का जैसा चित्रण अनेक कवियों ने इस संग्रह में किया है, ऐसा आधुनिक कविता में दुर्लभ है। नासिर अहमद सिकंदर की कविता 'धर्मावलंबियों' तथा 'मुगलकाल', एकांत श्रीवास्तव की कविता 'नागरिक व्यथा', हरीशचंद्र पांडे की कविता 'अयोध्या' अनिल कुमार सिंह की कविता 'अयोध्या 1991' में धर्मनिरपेक्षता खुलकर सामने आई है। धर्मावलंबियों' कविता में नासिर अहमद सिकंदर ने कहा—

धर्मावलंबियों
आत्मा में रखें धर्म
धर्म लगेगा अच्छा

इन्हीं की कविता 'बड़े भुलक्कड़ होते हैं' में इन्होंने कहा—भूल जाते हैं/कि हमारा राष्ट्र/धर्मनिरपेक्ष है।

प्रकृति के साथ पर्यावरण की भी चिंता इस संग्रह के कवियों में दिखाई पड़ती है, एकांत श्रीवास्तव की कविता 'नागरिक व्यथा' अनिल कुमार सिंह की कविता 'पृथ्वी पर बसने के समय से' एवं अष्टभुजा शुक्ल की कविता 'पप्पू का प्रलाप एक' में भी पर्यावरण की चिंता स्वतः स्पष्ट है।

वैश्वीकरण एवं बाजारवाद वस्तुतः कथा साहित्य की वस्तु हैं, किंतु यहां कवियों ने उसे अपनी कविता में जिस तरह तराशा है, वह दुर्लभ है। वैश्वीकरण एवं बाजारवाद का प्रभाव कुमार अंबुज की कविता 'क्रूरता' में दिखाई पड़ता है तथा आगे उन्हीं की कविता 'बाजार' में अपने चरम पर बाजारवाद दिखता है; विनोददास की कविता 'मित्र' भी इस प्रभाव से अछूती नहीं है, बद्रीनारायण की कविता 'बाजार का गीत' एवं नीलेश रघुवंशी की कविता 'फेसियल' में क्रमशः दलाली एवं सौंदर्य का बाजार गरम होता है। वैश्वीकरण एवं बाजारवाद के प्रभाव से बेरोजगारी एवं नस्लवाद भी यहां दिखाई पड़ता है। नासिर अहमद सिकंदर की कविता 'जैसे घर हो देश सरीखा' की काली लड़की बेराजगारी एवं नस्लवाद दोनों का प्रतिनिधित्व करती है, विनोद दास की 'बेरोजगार' भी इस प्रभाव से अछूती नहीं है।

इस संग्रह की कविताओं के वस्तुपक्ष का यदि समग्र मूल्यांकन किया जाए तो यह सभी रचनाएं एक काल-विशेष (लगभग 15 वर्षों) की रचनाएं न होकर कालातीत हैं, इसमें प्राचीन-इतिहास, आधुनिक संस्कृति, लोकतंत्र, अंतरराष्ट्रीयता, निज सुख-दुःख के साथ प्रकृति, ग्राम्यता, जनपदीयता, टोना-टोटका, मनौती, पहाड़, नदी, तालाब सब कुछ एक साथ समाहित हैं। प्रगतिवाद भले ही सन् 1936 के आसपास जन्मा हो, लेकिन उसकी धारा आधुनिक रूप में इस कृति में देखी जा सकती है। मुझे लगता है इस पुस्तक का प्रकाशन किया जाना ही केदार जी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है। जिस धारा की तरफ केदारजी ने मात्र इशारा किया था, उस सभी का उत्स इस रचना में समग्र रूप से दिखाई पड़ता है। इस रचना में केदार परंपरा के अन्य कवियों जैसे नागार्जुन, निराला, मुक्तिबोध की भी धारा अविकल दिखाई पड़ती है। यदि पाठकों को एक साथ कई कवियों

की कविताओं के साथ निराला, मुक्तिबोध, नागार्जुन एवं केदार को यहां देखना हो तो वह इन कवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है। ट्रेन का जीवन, हिजड़ों का जीवन, दिल्ली की चर्चा, अन्न, बहनें, दलाईलामा, ललमुनिया, चिड़िया जैसी समग्रता यहां बहुतायत से देखी जा सकती है।

इन कवियों की रचनाओं के कला पक्ष की ओर यदि देखा जाए तो वह अद्भुत है, छंदात्मकता, लयात्मकता के साथ व्यंग्य आदि भी स्पष्ट परिलक्षित है। भावों की तरह भाषा गांठ रहित प्रायः अनगढ़, बेतरतीब उगी हुई घासों और फूलों की वनस्थली प्रतीत होती है, लेकिन उनके इस जंगलीपन में भी आकर्षण है। दिनेश कुमार शुक्ल की कविताओं में जहां शब्द-लय, सौंदर्यबोध का सजीव चित्रण है, वहीं अनामिका की कविताओं में मुहावरेदार भाषा का चित्रण है। अंग्रेजी, उर्दू तथा संस्कृत भाषाओं के शब्दों का प्रयोग बहुतायत से है, लेकिन यही इन कविताओं का सौंदर्य है। 'बिंब' का प्रयोग विनोद दास की कविताओं में स्पष्टतः देखा जा सकता है। मंचीय कविता का दिग्दर्शन भी यहां स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। 'पप्पू का प्रलाप' तथा 'भारत घोड़े पर सवार' आदि कविताएं व्यंग्यात्मक के साथ मंचीयता का भी दिग्दर्शन कराती हैं। लोकगीत का भी प्रयोग लयात्मकता के लिए इन कविताओं में कहीं-कहीं दिखाई पड़ता है। समग्र रूप से देखा जाए तो इन कविताओं का कला पक्ष एक तरह से इतिहास है, जहां सभी तत्व विद्यमान हैं। पुरस्कार समिति के सदस्यों द्वारा कवियों के कला पक्ष व भाव पक्ष का जो संक्षिप्त खाका इस संग्रह में रखा है, वह अपने में अद्वितीय तथा समग्र है। इससे कवियों की कविताएं दुरुह नहीं रह पातीं।

इस संकलन में कुछ अनकहा भी रह गया है, यदि कवियों का परिचय और विस्तृत होता तथा कवियों की सामाजिक पृष्ठभूमि और विस्तारित रहती तो संभवतः यह प्रयास निर्दोष कहा जा सकता था। केदार सम्मान प्रारंभ किए जाने के इतिहास का वर्णन भी अत्यंत संक्षिप्त है, किंतु इससे रचनाओं का महत्त्व कम नहीं होता, आगे भी सम्मानित होने वाले कवियों की रचनाएं भी इसमें निरंतर जुड़ती रहेंगी, ऐसी आशा भी की जानी चाहिए।

अंत में इस संकलन की समस्त रचनाओं एवं रचनाकारों के कृत्य को यही कहा जा सकता है कि 'आधुनिक प्रगतिवादी कविता नामक महाकाव्य में यह कविताएं सारांश हैं।'

केदार सम्मान के कवि/संपादक—नरेंद्र पुण्डरीक, सिद्धार्थ शंकर त्रिपाठी, प्रकाश त्रिपाठी/हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, मूल्य : ₹ 180

रेवाज-विला (REWA'sVILLA), एम. 90, गोविंदपुर, इलाहाबाद, मो. 9415151568

सरलता का आकाश

साधना अग्रवाल

भारत के किसी उच्च न्यायालय की पहली महिला चीफ जस्टिस लीला सेठ की आत्मकथा पेंगुइन-यात्रा बुक्स से पहले अंग्रेजी में 'ऑन बैलेंस' शीर्षक से 2003 में आई थी। बेशक अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में जहां-तहां इसकी चर्चा हुई थी, खासकर हिंदुस्तान टाइम्स, इंडिया टुडे और दि हिंदू ने इस आत्मकथा की इसलिए तारीफ की थी कि कई क्षेत्रों में अग्रणी एक महिला की जीवटता के साथ जीवंत भाषा में लिखी गई यह पहली आत्मकथा थी, लेकिन लगभग सात वर्षों बाद जब यह आत्मकथा 'घर और अदालत' शीर्षक से प्रदीप तिवारी द्वारा हिंदी में अनूदित-प्रकाशित हुई तो इसे हिंदी पाठकों ने हाथों-हाथ लिया, जिसका एक बड़ा प्रमाण यह है कि 2010 में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के सर्वेक्षण में इस पुस्तक का प्रमुखता के साथ उल्लेख किया गया है। यही नहीं, हिंदी के प्रतिष्ठित कथाकार और लोकप्रिय कथा मासिक 'हंस' के संपादक राजेंद्र यादव ने अपनी पत्रिका के फरवरी, 2011 के अंक के अपने संपादकीय में इस पर टिप्पणी की।

यदि इस आत्मकथा के अंग्रेजी और हिंदी में अनूदित शीर्षक पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट होता है कि अंधे कानून की तराजू को संतुलित करने की जरूरत होती है। लीला सेठ की यह आत्मकथा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि घर और अदालत के बीच अपने भरसक उन्होंने संतुलन बनाए रखने की कोशिश की है। 20 अक्टूबर, 1930 दीवाली के दिन अपने ननिहाल में जन्मी लीला सेठ आजादी की लड़ाई की यदि एक तरफ गवाह रही हैं, तो दूसरी तरफ संघर्षपूर्ण पारिवारिक जीवन के बीच लंदन में कानून की पढ़ाई और पटना में 1959 में उच्च न्यायालय में प्रैक्टिस करने से लेकर 1992 में हिमाचल प्रदेश की चीफ जस्टिस पद से रिटायर होने तक सक्रिय रही हैं।

इस पुस्तक के तीन भाग हैं—पहले भाग में उनके शुरुआती जीवन, प्रेम विवाह और कानून की पढ़ाई का दिलचस्प ब्यौरा है। लिखती हैं, ''चूंकि मेरे पिता ब्रिटिश सरकार की इंपीरियल रेलवे सेवा में थे और 1906 में जन्मी मेरी मां की शिक्षा-दीक्षा मिशनरी स्कूल में हुई थी। स्वाभाविक रूप से घर का वातावरण अंग्रेजी था।'' ऐसी स्थिति में जब उनके बेटे विक्रम सेठ, (अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक) जिसकी उम्र उस समय आठ साल थी, से बाटा शू कंपनी, इंडिया जहां लीला सेठ के पति प्रेमो काम करते थे, के मित्र मिस्टर येनसेक ने विक्रम से पूछा, ''तुम्हारी मातृभाषा क्या है?'' तो उसने अंग्रेजी में जवाब दिया, ''मेरी मातृभाषा

हिंदी है, लेकिन मेरी मां की अंग्रेजी है।'' पुस्तक का यह बेहद दिलचस्प प्रसंग ही नहीं, बाल-सुलभ चंचलता और प्रश्नाकुलता का एक अप्रतिम उदाहरण भी है।

13 मार्च, 1951 को लीला सेठ ने प्रेमो से प्रेम विवाह किया था। पिता की मृत्यु हो जाने से परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, इसलिए मां द्वारा पूछे जाने पर शादी में कुछ खास चीज चाहिए, उन्होंने शादी के कुछ फोटोग्राफ बेहद संकोच के साथ बनवाने की अपनी इच्छा जाहिर की थी। मई, 1954 में प्रेमो को लंदन के बॉन्ड स्ट्रीट स्थित बाटा डेवलपमेंट ऑफिस में काम करने का मौका मिला। लीला और प्रेमो अपने दो साल के बेटे विक्रम को नानी के पास भारत में छोड़ गए थे, जो लीला सेठ के भाई शशि और उनकी पत्नी उषा के पास रहते थे। इस बीच नानी विक्रम को रोज उसके माता-पिता की फोटो दिखातीं ताकि वह उनके अस्तित्व को भुला न दे और उससे सिर्फ हिंदी में बातचीत पर जोर देती थीं, क्योंकि उनका मानना था कि अगर भाषा के बीज ने अच्छी तरह जड़ पकड़ ली तो वह लंदन जाकर भी अपनी भाषा को नहीं भूलेगा। विक्रम जब तीन साल का था तो अपने बड़े मामा मिची भाई और मामी मोयना के साथ लंदन आया। उस समय वह बिल्कुल अंग्रेजी नहीं समझ पाता था। एक बार जब लीला उसे स्कूल छोड़ने गई और कहा, 'आई वुड रिटर्न सून' तो उसने हिंदी में सवाल किया कि यह 'मिस्टर सून कौन हैं और कब आएंगे।' यहां दो संस्कृतियों की स्पष्ट टकराहट के साथ एक निर्दोष बच्चे का मन भी है, जो हिंदी संस्कारों में पला, एक अजनबी की तरह अंग्रेजी संस्कारों में अचानक डाल दिया गया है।

लंदन पहुंचने पर लीला सेठ मांटेसरी

डिप्लोमा कोर्स करना चाहती थीं, जिससे भारत लौटने पर एक नर्सरी स्कूल खोल सकें। तभी उन्होंने कैरियर्स इनसाइक्लोपीडिया नाम की एक किताब खरीदी, जिसमें विभिन्न पाठ्यक्रमों और कैरियर की संभावनाओं की जानकारी दी गई थी। उसमें एक सफल बैरिस्टर बनने के लिए बताया गया था कि अच्छी सेहत हो,सोच में तत्परता हो और हल्का-फुल्का परिहास करने की आदत हो, साथ ही धैर्य और लगन हो। इस तरह लीला सेठ में इन पांच में दो ही योग्यताएं थीं, लेकिन उन्होंने बार में प्रवेश इसलिए लिया, क्योंकि उसमें कक्षा में उपस्थिति को लेकर बहुत कठोर नियम नहीं थे। उन्होंने बार की परीक्षा प्रथम स्थान हासिल कर पास की, जिसकी वहां के अखबार 'स्टार' ने खबर छापी और शीर्षक दिया 'मदर इन लॉ'। तब उनकी गोद में उनका छह माह का दूसरा बेटा शांतम था। आप इस शीर्षक की व्यंजना पर गौर करें। प्रचलित अर्थ के विपरीत वे 'मदर इन लॉ' थीं। यह गौरव उन्हें मिला।

अकादमिक सफलता से भरपूर भारत लौटने पर लीला सेठ को जल्दी ही जिंदगी की कड़वी हकीकतों और बार में प्रैक्टिस शुरू करने में आने वाली मुश्किलों से सामना करना पड़ा। इसी सिलसिले में कलकत्ता हाईकोर्ट के रजिस्टार श्री अहमद ने उन्हें सचिन चौधरी से मिलने की सलाह दी। लीला सेठ जब उनसे मिलने गईं तो उन्होंने नसीहत दी कि, ''कानूनी पेशा अपनाने के बजाय जाकर शादी-वादी करो।'' तो उन्होंने कहा, ''लेकिन श्रीमान मैं तो पहले से ही शादीशुदा हूं।'' उनकी सलाह थी, ''तो जाकर बच्चा पैदा करो।'' मेरे यह बताते ही कि ''मेरे एक बच्चा है'', उनका अगला वाक्य था, ''यह तो ठीक नहीं है कि बच्चा अकेला रहे। इसलिए अच्छा होगा कि तुम दूसरे बच्चे के जन्म के बारे में सोचो।'' तब मैंने कहा, ''चौधरी जी, मेरे पहले से ही दो बच्चे हैं'' अब तीसरी बार वह थोड़ा चौंके और बोले, ''तब ठीक है, मेरे चैंबर में शामिल हो जाओ। तुम दृढ़ निश्चयी युवती हो और बार में अच्छा काम करोगी।''

प्रेमो के 1958 में पटना स्थानांतरण होने के साथ लीला भी कलकत्ता से पटना पहुंची और एक वकील के तौर पर प्रैक्टिस सही मायने में पटना हाईकोर्ट में 1959 में शुरू की, जहां मात्र दो महिला वकील थीं। एक वे स्वयं और दूसरी धर्मशिला लाल।

लीला अपने काम और घरेलू जीवन के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए प्रयत्न करती रहती थीं। विक्रम काफी जिज्ञासु किस्म का था और जो कोई भी उसके आसपास होता, उसके सामने सवालों का पिटारा खोल देता। ऐसे में एक बार उसने लीला के एक वकील मित्र से प्रश्न किया कि ऐसा कौन-सा अपराध है, जिसको करने के बाद उसकी सजा नहीं मिल सकती, जबकि प्रयास करने पर सजा दी जा सकती थी? वह चकराकर रह जाते और तब तक उसका जवाब हाजिर होता, ''आत्महत्या''।

लीला सेठ चार बच्चों की मां थीं, दो बेटे—विक्रम और शांतम तथा दो बेटियां आराधना और इरा। इरा को उन्होंने अपने भाई शशि को गोद दे दिया था, जिसकी बाद में मृत्यु हो गई। लीला के कुछ साथी उनके बच्चों के बारे में जानना चाहते थे कि वे क्या करते हैं। एक बार किसी ने उनके ड्राइवर से पूछा तो उसने जवाब दिया, ''कुछ नहीं, एक तो ऊपर की मंजिल में बैठ जाता है, बस पढ़ता-लिखता, सोता और खाता है और मां-बाप की कमाई खर्च करता है। दूसरे लड़के ने बगीचे में मिट्टी की झोपड़ी बनाई है और वहां बैठकर शून्य में निहारता रहता है या दोस्तों से गपियाता है या उठकर बगीचे के चारों ओर बीज बिखरने लगता है। लड़की विभिन्न कलाकारों और वास्तु शिल्पकारों से फोन पर लगातार बात करती रहती है—देर रात घर आती है और सुबह देर तक सोती है।''

26 जून, 1975 को जब इमरजेंसी की घोषणा हुई तो एक आम भारतीय की तरह लीला ने भी महसूस किया कि लोकतंत्र की हत्या हो चुकी है। उन्हीं दिनों उनके पति प्रेमो को झूठे आरोप के कारण निलंबित किया जा चुका था। विक्रम अर्थशास्त्र में पी-एच.डी. करने कैलिफोर्निया की स्टैंनफोर्ड यूनिवर्सिटी में था, जिसने वहां से पिता को दिल छू लेने वाला पत्र लिखा था।

लीला सेठ को दिल्ली हाईकोर्ट में जज बनाने के लिए देश के चीफ जस्टिस चंद्रचूड़ ने उनका बायोडाटा जस्टिस टाटाचारी के पास भेजने के लिए कहा। दरअसल तब तक हाईकोर्ट में जज के तौर पर नियुक्त होने वाली जस्टिस अन्ना चंडी एकमात्र महिला थीं, जो केरल हाईकोर्ट में जज नियुक्ति हुई थीं। 25 जुलाई, 1978 को चीफ जस्टिस टाटाचारी ने उन्हें दिल्ली हाईकोर्ट में जज के रूप में शपथ ग्रहण कराई। देश और विदेश से बधाई संदेश मिले, लेकिन अस्सी वर्षीय सीनियर एडवोकेट सी. के दफ्तरी ने उन्हें बधाई के साथ परामर्श दिया कि 'जज चार तरह के होते हैं—डरपोक किस्म के जज, फैसला लेने में लचर जज, पंडिताऊ जज और चौथे, जो सीधे तौर पर समझबूझ कर फैसला लेते हैं, आप यही बनना।' और लीला ने यही बनने की कोशिश की, लेकिन जब सुप्रीम कोर्ट की पहली महिला जज के रूप में उनके नाम को पीछे छोड़कर राजनीति और लाबिंग के कारण फातिमा बीवी को पहली महिला जज बनाया गया तो उन्हें समझ में आया कि योग्यता के कोई मायने नहीं हैं, क्योंकि जस्टिस फातिमा बीवी का न्यायिक रिकार्ड काफी साधारण था। फिर लीला सेठ को शिमला में हिमाचल प्रदेश हाईकोर्ट का चीफ जस्टिस बना दिया गया। यद्यपि वे चाहतीं तो दिल्ली में जज बनी रह सकती थीं, लेकिन देश के किसी राज्य की पहली महिला चीफ जस्टिस बनना उन्होंने स्वीकार किया। बतौर चीफ जस्टिस 15 महीने अपने कार्य को कुशलतापर्वूक निभाते हुए 20 अक्टूबर, 1992 को वे रिटायर हुईं। अवकाश ग्रहण करने के बाद उन्होंने नोएडा में रहने का निर्णय लिया। आजादी महसूस होने के बाद भी उनकी मेहनत और लगन में कोई कमी नहीं आई। अपनी जीवटता के कारण ही उन्होंने रिटायर होने के बाद वर्ल्ड वाइड फंड फॉर नेचर में नौ महीने के पर्यावरण कानून पाठ्यक्रम में प्रवेश लिया और डिप्लोमा प्राप्त किया। उन्हें 15वें विधि आयोग का सदस्य नियुक्त किया गया।

'फिर परिवार की बात' शीर्षक अध्याय में लीला सेठ ने साहसपूर्वक अपने बड़े बेटे विक्रम का गे होना स्वीकार किया है। लीला सेठ की यह आत्मकथा संतुलन के साथ लिखी गई है। यह एक प्रकार का आत्मावलोकन भी है, साथ ही यह समझने की कोशिश भी कि एक साधारण लड़की, जिसे दुनिया कभी अपनी नहीं लगी और न ही उसने उसे कभी बदलने की कोशिश की, लेकिन अब बदलाव के लिए संघर्ष करना चाहती है, मगर शांति से।

अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं खासकर

हिंदी, मराठी और गुजराती में अनेक आत्मकथाएं लिखी गई हैं, जिनमें एक और गांधी हैं तो दूसरी ओर बर्टेंड रसेल और दोनों ने अपनी जिंदगी के अंधेरे पक्ष यानी अपनी कमजोरियों का भी यथास्थान उल्लेख किया है। लीला सेठ ने भी कुछ नहीं छिपाया है भीतर-बाहर के अंतराल को अपनी बौद्धिकता और व्यावहारिकता के कारण संतुलित किया है। जिस जीवंत और रोचक भाषा में किस्सागोई के शिल्प में यह आत्मकथा लिखी गई है, उसकी प्रशंसा करनी ही होगी। इस आत्मकथा के बारे में मुझे एक और बात कहनी है कि लीला सेठ ने इस आत्मकथा में न अपने जीवन के सच को छुपाया है और न ही अपने आत्मसंघर्ष को। सबसे अच्छी बात यह है कि भाषा की सादगी के साथ अपने जीवनानुभव को उन्होंने पाठकों के सामने संपूर्णता में खोलकर रख दिया है। उनकी यह आत्मकथा रूसो, सार्त्र, नीरद-सी.चौधरी, सिमोन द वोउआर, चार्ली चैपलिन, इजाडोरा डंकन, पिकासो, इरविंग स्टोन द्वारा लिखित वॉन गॉग की जीवनी 'लस्ट फॉर लाइफ' का भी स्पर्श करती है। मुझे सचमुच प्रसन्नता होगी यदि हिंदी की आत्ममुग्ध लेखिकाएं मैत्रेयी पुष्पा, कुसुम अंसल, रमणिका गुप्ता और कृष्णा अग्निहोत्री उनकी आत्मकथा पढ़कर अपनी आत्म प्रवंचनाओं से ऊपर उठ सकें।

घर और अदालत/लीला सेठ/पेंगुइन-यात्रा बुक्स इंडिया प्रा.लि., 11, कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110017, मूल्य : ₹ 325

4-सी ऊना एन्क्लेव, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091, मो. 09891349058

नाटक

धुआं की जड़ और छोटी ड्योढ़ीवालियां का आकाश

राजेश्वरी सिंह

सुपरिचित नाटककार परवेज अहमद के नाटक 'ये धुआं-सा कहां से उठता है और ड्योढ़ीवालियां' के शीर्षक प्रतीकात्मक हैं। दोनों नाटक मध्यप्रदेश के मालवा इलाके पर केंद्रित हैं। 'ये धुआं सा कहां से उठता है' में बंटवारे की त्रासदी के साथ समय-समय पर हिंदुस्तान-पाकिस्तान, संप्रदायवाद और मजहब के नाम पर चढ़ते-उतरते बुखार की तरह लगते हैं। 'छोटी ड्योढ़ीवालियां' मुस्लिम माहौल में स्त्रियों की हालत और उस हालत पर समझौता करके चलते रहने को चित्रित करता है।

बंटवारे की त्रासदी पर कई नाटक पहले भी लिखे गए थे। परवेज अहमद का नाटक 'ये धुआं सा कहां से उठता है' अलग नाटक है। इसमें बंटवारे के बाद स्वतंत्र हिंदुस्तान में मुसलमानों को वह सुकून नहीं मिला, जो मिलना चाहिए। राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन ने कहा था—'ये जंग नहीं है.. .असल में दो भाई आपस में लड़ रहे हैं।' हिंदुस्तान-पाकिस्तान बंटवारे में इंसानियत, जज्बात और ख्वाहिशों का बंटवारा हुआ है। नाटक की पात्र बताशी पूछती है—'पाकिस्तान बना, बंटवारा हुआ तो कौन बंटा.. हिंदुस्तान-पाकिस्तान के आसमान का रंग तो यही है, हवाओं-फिजाओं का आलम यही है, समंदर का पानी वही है, दरियाओं की कल-कल वही है, सूरज की तपिश वही है, चांद की चांदनी वही है, तो फिर बंटा कौन? मैं पूछती हूं, बंटा कौन? इंसान बंटे, इंसानियत बंटी, जज्बात बंटे, जेहन बंटे और बनी जैसे मासूमों के ख्वाब बंटे, ख्वाहिशें बंटी।' नाटक में अमीन मुख्य पात्र है। सरकारी नौकरी पर है। उसे इस बात का हमेशा डर बना रहता है कि कहीं किसी को पता न चल जाए कि बंटवारे के समय वह भी अपने चच्चा के साथ पाकिस्तान चले गए थे और फिर यह सोचकर वापस आ गए—'वहां तपती धूप थी, तो गुलमोहर का साया भी था, हर जख्म का मरहम था, अपने आंगन में हम कितने महफूज थे...।'

बंटवारे की त्रासदी को झेलते अमीन पाकिस्तान में रह रहे रिश्तेदारों को अपने घर पर रुकवाना नहीं चाहते। उनका कहना है, ''हमें शक की नजर से देखा जाता है।'' अमीन को हिंदुस्तान से बहुत प्यार है। जैसे-तैसे अमीन पाकिस्तान जाने को तैयार होते हैं तो अपनी अंतिम इच्छा साबिर के सामने व्यक्त करते हैं, 'देखो...अगर खुदा न ख्वास्ता मुझे कुछ हो जाए तो हरगिज. ..हरगिज...वहां मत दफनाना...मैं हर कीमत पर, कब्रिस्तान मौलाना साहेब में ही दफन

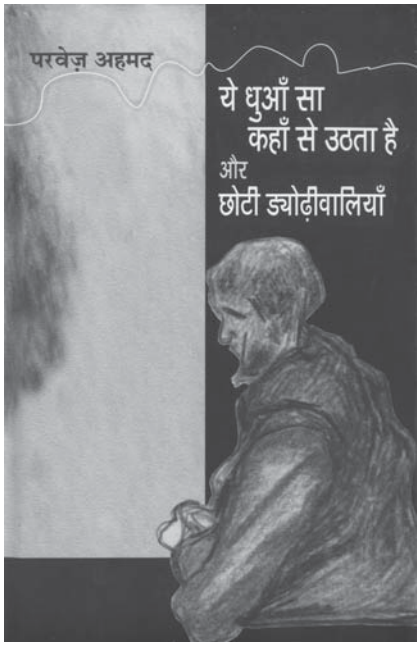

होना चाहूंगा।' हिंदुस्तान- पाकिस्तान के रिश्तों को संदेहास्पद बताते हुए साबिर कहते हैं—'हिंदुस्तान-पाकिस्तान के रिश्ते तो मौसमी बुखार की तरह हैं...क्रोसिन दी तो उतर गया, ...दवा का असर खत्म होते ही फिर चढ़ गया, इसीलिए कह रहा हूं अमीन मियां जल्दी से हो आइए, वर्ना पता नहीं कब इन रिश्तों को दोबारा बुखार चढ़ जाए।' नाटककार ने शासन व्यवस्था पर तानाशाही का शिकंजा कसने पर तीव्र व्यंग्य किया है—'सियासत के दिलफरेब नकाब के पीछे सत्ता का एक भयावह चेहरा छुपा होता है।. ..और उसी की गंदी मानसिकता का नतीजा यह होता है कि घर बैठे-बैठे इंसान कभी मुस्लिमलीगी हो जाता है, कभी पाकिस्तानी करार दे दिया जाता है और कभी उसे आतंकवाद के कटघरे में खड़ा कर दिया जाता है।' उसूलों में बांधी गई स्त्रियां भी उसूलों में बदलाव लाना चाहती है। '...माना कि आप पर्दे के खिलाफ हैं, सिनेमा के खिलाफ हैं, लेकिन इसका यह मतलब तो नहीं कि बच्चों को सिनेमा हॉल से खींचकर उठा लाएं, सड़क चलती बच्चियों के नकाब ठीक करें और भरे बाजार में उन्हें शर्मिंदा करें। अमीन भाई साहिब के उसूल भी एक जगह ठहर गए हैं...उसूलों को भी बहते पानी की तरह होना चाहिए, वक्त के साथ उसूलों में भी बदलाव आना चाहिए।'

'छोटी ड्योढ़ीवालियां' नाटक में जागीरदाराना माहौल प्रस्तुत किया गया है। पूरा नाटक छोटी नानी और सकीना, दो औरतों पर टिका है। पुरुष प्रधान समाज में निजाम की अय्याशी की शिकार और समाज से बहिष्कृत सकीना और छोटी नानी के बीच रिश्तों में ज्वार-भाटा की तरह उतार-चढ़ाव इस नाटक में लक्षित होता है। मुस्लिम माहौल को प्रस्तुत करता यह नाटक आपसी रिश्तों को बखूबी निभाता है। नाटक में कई बार फ्लैशबैक के जरिये छोटी नानी बीते दिनों की याद करती हुई समझौते के साथ चलती है। खुद से कहती है, 'आग पर पानी डालो तो धुआं उठता है, जो अपनी ही आंखों को जलाता है...राख में आग बुझती नहीं. ..ठंडी पड़ जाती है। इस ठंडी आग की बची-खुची चिंगारियों से जब चाहें एक नई आग पैदा कर सकते हैं।' रिश्तों में कड़वाहट

है, लेकिन कहीं दबी हुई इंसानियत अचानक उभरकर सामने आती है। 'नहीं...नहीं...नहीं. ..बिल्कुल नहीं...मैं सकीना को यों बेइज्जत नहीं होने दूंगी...इस संदूक को कोई नहीं छुएगा...यह संदूक...सकीना के साथ उसकी कब्र में जाएगा...' (छोटी नानी बड़ी मजबूती से संदूक को पकड़ लेती है...)

वस्तुतः ये दोनों नाटक आजादी पूर्व और बाद के हिंदुस्तान के चेहरे हैं, जिनमें एक तरह यदि बंटवारे की त्रासदी है तो दूसरी तरफ मुस्लिम समाज का दर्द। कहना चाहिए परवेज के दोनों नाटक न केवल प्रासंगिक हैं, बल्कि अपनी प्रस्तुति में आज हमारे होने पर तीखा व्यंग्य भी हैं।

यह धुआं कहां से उठता है और छोटी ड्योढ़ीवालियां/ परवेज अहमद/शिल्पायन, 10925, लेन नं. 1, वेस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, मूल्य : ₹ 125

द्वारा श्री वाई.एस.तोमर, विंग-बी. 1002, पार्क व्यू अपार्टमेंट्स, सेक्टर-20, प्लॉट नं. 73, नवीं मुंबई-410210, मो. 09029564293

'पुस्तकवार्ता' उपहार योजना

'पुस्तकवार्ता' के दो वर्ष के लिए नए सदस्य बनने पर पत्रिका के पुराने उपलब्ध अंक भेंट स्वरूप दिए जाएंगे। 'पुस्तकवार्ता' का दो वर्ष का सदस्यता शुल्क ₹ 265 है, चेक से भेजने पर इसमें बैंक कमीशन का ₹ 25 और जोड़ दें।

सदस्यता शुल्क चेक या ड्राफ्ट से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से इस पते पर भेजें—

प्रकाशन विभाग, क्षेत्रीय विस्तार केंद्र (दूरस्थ शिक्षा), महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, ब्लॉक-सी/60, प्रथम तल, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017

दूरभाष : 011-26677365, 011-41683875

अनुरोध

महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा के प्रकाशन प्रभारी का अनुरोध है कि पुस्तकवार्ता के समीक्षक समीक्षा प्रकाशनार्थ भेजते समय कृपया अपना बैंक खाता सं. और मोबाइल नं. का उल्लेख जरूर करें ताकि मानदेय का सुविधाजनक भुगतान इन्टरनेट बैंकिंग के द्वारा किया जा सके।

मानदेय के भुगतान में देरी इसलिए भी होती है कि बहुत से चेक सही पता न होने के कारण वापिस आ जाते हैं और पुनः चेक भेजने पर उनकी भुगतान की तारीख समाप्त हो जाती है। साथ ही विश्वविद्यालय को डाक-व्यय का अतिरिक्त भार भी उठाना पड़ता है।

—संपादक

सफेद रंग के इंद्रधनुष की रचना

सुशील त्रिवेदी

विनोद शंकर शुक्ल समकालीन व्यंग्यकारों की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। विगत चार दशकों से वे निरंतर व्यंग्य रचना में संलग्न हैं। उनकी नवीनतम कृति 'जित देखूं तित व्यंग्य' उनके समग्र रचनाकर्म का प्रतिनिधि प्रकाशन है। इसमें उनके व्यंग्य निबंध, व्यंग्य लघु कथाएं, व्यंग्य कथाएं, व्यंग्य लघु नाटक, व्यंग्य साक्षात्कार और व्यंग्य परिचर्चाएं हैं। इसके अतिरिक्त, उन्होंने कुछ प्रतिष्ठित व्यंग्य रचनाकारों की कृतियों की समीक्षा भी इसमें शामिल की है। इस प्रकाशन का एक दिलचस्प अंश यह है कि इसमें उन्होंने परसाई, शरद जोशी, अमृत लाल नागर और नागार्जुन जैसे साहित्यकारों से जुड़े अपने निजी संस्मरण भी शामिल किए हैं। इस तरह इस कृति में विनोद शंकर शुक्ल के लेखन का समावेशी रूप हमारे सामने उपस्थित हुआ है।

रचनाकार जब अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है, तब वह अपने सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश से प्रभावित होता है। यह प्रभाव अपने तिर्यक रूप में व्यंग्य उत्पन्न करता है। बहरहाल, अब जब व्यंग्य ने शैली से बढ़कर एक विधा का रूप लिया है, तब उस पर अलग से विचार जरूरी हो गया है।

किसी भी व्यंग्य रचना की सबसे बड़ी सफलता यह होती है कि उस रचना को पढ़कर हर पाठक उद्वेलित हो जाए। रचना के पाठकों में यूं तो अधिकांश संख्या सामान्य जन की होती है। ये सामान्य जन उत्पीड़ित करने वाली वर्तमान व्यवस्था के शिकार होते हैं। आमजन को उत्पीड़ित करने वाली व्यवस्था में प्रचलित परंपराए, संस्थाएं, रीति-रिवाज, पाखंड और विशेषकर राजनीति तथा राजनीति से जुड़े लोग शामिल होते हैं, इसलिए ऐसी व्यवस्था पर किए गए बौद्धिक प्रहार से अभिव्यक्ति के स्तर पर जुड़कर पाठक सह अनुभूति करते हैं। यह अनुभूति उन्हें आनंदित करती है। यह अनुभूति एक अन्य स्तर पर भी सक्रिय होकर पाठक को वैचारिक रूप से भी उद्वेलित करती है और यदाकदा व्यवस्था का प्रत्यक्ष विरोध करने के लिए प्रेरित करती है। व्यवस्था की विसंगतियों और विद्रूपताओं के कारण वे पाठक जिस विवशता और पीड़ा को अनुभव करते रहे हैं, व्यंग्य रचना उसके साथ उनका साधारणीकरण कराती है। अब यह भी स्वाभाविक है कि हर पाठक समान रूप से व्यवस्था की विसंगतियों और विद्रूपताओं से पीड़ित न हो और आमजन की अनुभूति उसकी अपनी अनुभूति न हो। इसके बावजूद, चूंकि हर पाठक किसी न किसी बात को लेकर व्यवस्था से असंतुष्ट रहता है, वह व्यवस्था पर किसी अन्य कारण से किए गए प्रहार से सहमत होता है। यह सहमति लेखक की भावना से साधारणीकृत होती है, लेकिन बात यहां तक आकर रुक नहीं जाती है, वह उससे आगे भी बढ़ती है। व्यंग्यकार व्यवस्था की जिस विसंगति पर और विसंगति को यथार्थ रूप देने वाले व्यक्ति या संस्था पर प्रहार करता है तो उस संस्था और उस संस्था से जुड़े व्यक्ति विशेष इस व्यंग्य रचना को पढ़कर तिलमिला उठते हैं। उस व्यंग्य रचना को पढ़कर उन पर किए गए व्यंग्य से संदर्भित संस्था और व्यक्ति का उद्वेलित होना व्यंग्य रचना की उपलब्धि है, यद्यपि सामान्य पाठक के उद्वेलन से संदर्भित संस्था या व्यक्ति विशेष का उद्वेलन अलग-अलग दिशा में होता है।

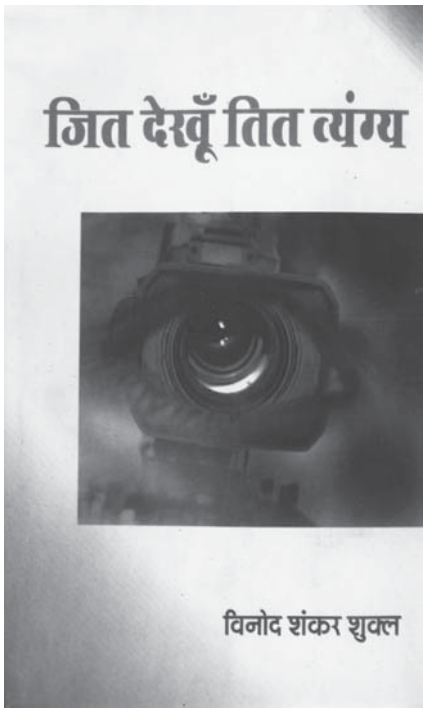

शुक्ल की पुस्तक 'जित देखूं तित व्यंग्य' को हम अलग-अलग खंडों में पढ़ते हैं और उस पर अलग-अलग दृष्टि से विचार करते हैं, क्योंकि यह पुस्तक उनकी रचनात्मक क्षमता के अनेक पक्षों को सामने लाती है। 'झगड़ा मिर्जा गालिब के बंटवारे का' भारत की राजनीतिक और सांप्रदायिक परिस्थिति को बड़ी संजीदगी के साथ रेखांकित करती है। हर बड़े व्यक्ति को भारत और पाकिस्तान की धरोहर सिद्ध करने और सिद्ध करने से ज्यादा उसे न्यस्त स्वार्थों की पूर्ति के लिए किए जाने वाले उपक्रम को इसमें उघाड़ा गया है। समाज और राष्ट्र को अपने सृजन से सम्पन्न करने वाले ग़ालिब की असहायता वर्तमान में रचनाकार की बेचारगी को दर्शाती है। इस तरह एक जानी-पहचानी हस्ती को नायक बनाकर शुक्ल ने हमारे समय की सभ्यता के खोखलेपन और राष्ट्रवाद के नाम पर होने वाले कदाचार का रूप प्रस्तुत कर दिया है।

अगली व्यंग्य कथा 'शहर में वसंत की तलाश' एक साथ कई ठिकानों पर आघात करती है। षड्ऋतुओं में से एक वसंत तो प्रतीक है—प्रेम, सौंदर्य और रंगों का, लेकिन प्रकृति से तो वसंत लुप्त हो चुका है। वसंत की जगह सूखा व्याप्त है या फिर 'भगवान के बनाए फूलों की जगह इंसान के बनाए नकली, इत्र से महकते फूल हैं।' 'वसंत अपने हर ठौर-ठिकाने से उसी तरह गायब है, जिस तरह सरकारी अस्पताल से दवा और डॉक्टर के दिल से दया।' शुक्ल ने इस कथा में प्रकृति में आए बदलाव पर अपना रोष और खेद व्यक्त किया है, किंतु उसके साथ उन्होंने सामाजिक और व्यावहारिक जीवन में सहज स्वभाव के स्थान पर बनावट और असंवेदनशीलता पर चुटीला व्यंग्य किया है।

व्यंग्य कथा शृंखला में 'शोधं शरणं गच्छामि' में विश्वविद्यालयों में शोध के नाम पर चलने वाले वाणिज्यिक घरेलू कारखानों के कार्य व्यवहार, अकादमिक छद्म आचार और बौद्धिक पराभव से साक्षात्कार होता है, जो एक तरफ हरिशंकर परसाई के व्यंग्य की याद दिलाता है, दूसरी तरफ कांति कुमार जैन के संस्मरण की। 'राष्ट्र भाषा संग्राम सेनानी श्रीयुत हिंदी पादुका प्रसाद' व्यंग्य कथा में राष्ट्र भाषा को सामने रख कर निजी स्वार्थों की पूर्ति और हिंदी की सेवा की आड़ में चलाए जाने वाले व्यवसाय का पूरा चित्र सामने आता है। इस कथा का नायक निश्चित ही किसी कला फिल्म का खलनायक बनने लायक है। इस कथा की शैली इस विषय पर लिखी अनेक व्यंग्य रचनाओं से उसे अलग सिद्ध करती है।

इन व्यंग्य कथाओं का वैशिष्ट्य यह है कि इनमें लेखक या तो नायक है या फिर सूत्रधार। व्यंग्यकार का अनुभव संसार जितना विपुल और जितना बहु पार्श्वीय है, उतना ही उसका शिल्प वैविध्यपूर्ण है। कथा का प्रारंभ किसी संगीत की लहरी के आलाप के रूप में होता है और उसका क्लाइमेक्स होता है द्रुत में। ये कथाएं समाज के विविध सोपानों में पाए जाने वाले नायकों के चरित्र को चीर कर उनकी असलियत को बतलाती हैं।

मुझे इस संकलन में लेखक द्वारा प्रस्तुत कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के साथ लिए गए काल्पनिक साक्षात्कारों की शैली और उनमें भाषागत प्रयोग रेखांकन योग्य लगे। इन साक्षात्कारों में चूंकि श्री शुक्ल ने यथार्थ की स्थिति को कल्पना के स्तर पर प्रस्तुत किया है, इसलिए इन साक्षात्कारों में जिनका साक्षात्कार है, उनके व्यक्तिवाचक नाम नहीं हैं। बहरहाल, व्यंग्य को पढ़ना शुरू करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कौन विशिष्ट व्यक्ति हैं, जिनके रचना कर्म और जीवन शैली को श्री शुक्ल ने अपने व्यंग्य का विषय बनाया है। एक अति वरिष्ठ और महिला तथा मदिरा प्रेमी प्रसिद्ध स्तंभ लेखक की जीवन शैली को उन्होंने बड़ी बारीकी के साथ प्रस्तुत किया है, जिससे स्तंभ लेखक के चरित्र का दोहरापन उजागर होता है। इसके विपरीत देश के सर्व प्रतिष्ठित अंग्रेजी समाचारपत्र में आम आदमी को केंद्र में रखकर कार्टून बनाने के लिए प्रख्यात कार्टूनिस्ट के साथ काल्पनिक साक्षात्कार कार्टून चित्रकला में व्यंग्य के अंकन के वैशिष्ट्य को चित्रित करता है। इसी तरह उत्तर भारत के एक बीमार राज्य के अगुआ, किंतु राजनीति में जोकर नेता के रूप में पहचाने जाने वाले नेता, नंगे पैर चलने वाले भारतीय चित्रकला के एक विवादास्पद शीर्ष कलाकार और भारतीय फिल्म जगत के एक सदाबहार अभिनेता को केंद्र में रखकर वर्णित साक्षात्कार राजनीति, चित्रकला और फिल्म जगत की विरूपताओं को सामने लाते हैं। ये व्यंग्य अपने चरित्र नायकों के व्यक्तित्व के विविध पहलुओं को भी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इन साक्षात्कारों में चरित्र नायकों के प्रति सहज सम्मान और उनके व्यवहार और उपलब्धि के प्रति संवेदनशीलता बनाए रखते हुए श्री शुक्ल विसंगतियों के खोखलेपन पर बड़ी बारीकी से प्रहार करते हैं। इस तरह नाजुक विषय को वे पूरे लेखकीय संतुलन के साथ निभाते हैं। उनका भाषा प्रयोग यहां व्यंजना के शीर्ष में है। उनमें सहज उभरने वाले शब्द अर्थों की झोली भरे हुए हैं।

श्री शुक्ल ने यह महसूस किया है कि व्यंग्य आलोचना की स्थिति दरिद्र है और व्यंग्य रचनाओं पर सही दृष्टि से की जाने वाली समीक्षा उपलब्ध नहीं है। शायद यही ध्यान में रखकर उन्होंने हरिशंकर परसाई की रचनाओं की समीक्षा की है। उन्होंने ज्ञान चतुर्वेदी, विष्णु नागर और गिरीश पंकज की रचनाओं पर भी समीक्षात्मक दृष्टि डाली है। हिंदी में अनेक रचनाकार इस तरह सृजनात्मक लेखन और समीक्षात्मक लेखन का कार्य एक साथ करते रहे हैं और श्री शुक्ल ने उसी परंपरा में यह समीक्षा कार्य किया है। बहरहाल श्री शुक्ल जितने पैने व्यंग्य लिखने में हैं, उतने तीखे समीक्षा लिखने में नहीं। शायद परिचय और निकटता का सामाजिक दबाव उन्हें निर्मम समीक्षक बनने से रोकता रहा है।

'जित देखूं तित व्यंग्य' को शुक्ल 'व्यंग्य रचनाओं का कोलाज मानते हैं। इसीलिए उसमें वह सब कुछ है, जो उन्होंने लिखा है। इस कोलाज में एक सहृदय पाठक और प्रशंसक के रूप में शुक्ल ने हरिशंकर परसाई, नागार्जुन, अमृत लाल नागर और शरद जोशी के साथ बिताए क्षणों को पूरी सहजता के साथ वर्णित किया है। ये संस्मरण शुक्ल के भी रचना व्यक्तित्व को उद्घाटित करते हैं, जब वे अपने साहित्य नायकों के चरित्र को कुछ घटनाओं के जरिए सामने लाते हैं। मेरे लिए ये संस्मरण साहित्य नायकों की अपेक्षा शुक्ल के जीवन आदर्शों और कला मूल्यों को बतलाने वाले अधिक हैं।

शुक्ल ने अपनी व्यंग्य रचनाओं में भाषा के प्रयोग पर सर्वाधिक ध्यान दिया है। यद्यपि उनके व्यंग्य के विषय सुपरिचित हैं और इन्हीं विषयों पर अन्य व्यंग्यकारों ने भी रचनाएं लिखी हैं, किंतु उन्होंने विषयों को जिस नएपन से रूपायित किया है, उसमें भाषा की व्यंजना शक्ति का नया आलोक है। साधारण से लगने वाले, रोजमर्रा की बातचीत में उपयोग में आने वाले मुहावरों और मशहूर शायरों और रचनाकारों की पंक्तियों को उन्होंने अपनी व्यंजना शक्ति से उद्वेलित करने वाले अर्थ से आपूरित कर दिया है। अपने आसपास घटित हो रहे साधारण में असाधारण को देखना, जाने-बूझे व्यक्तित्वों को आभासित सरलता में अदृश्य वक्रता को पहचानना, शब्दों की म्लान अभिधा को स्फूर्त व्यंजना में साधना और इनसे सफेद रंग में इंद्रधनुष की रचना करना श्री शुक्ल के व्यंग्यकर्म की पहचान है।

जित देखूं तित व्यंग्य/विनोद शंकर शुक्ल/शताक्षी प्रकाशन, 8, मार्केटिंग सेंटर, चौबे कॉलोनी, रायपुर (छ.ग.), मूल्य : ₹ 350

क्यू-3, श्रीराम नगर, फेज-2, (शंकर नगर), रायपुर-492007

रूसी घटाटोप कोहरा और सुगबुगाती करवटें

राकेश कालिया

आजादी के बाद हमारे देश की कम-से-कम पांच पीढ़ियां हिंदी-रूसी दोस्ती को परवान चढ़ते देखती बड़ी हुई हैं। सोवियत यूनियन के एक सपने के होने या न होने की बहस को छोड़ भी दें, तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस राष्ट्र के अस्तित्व ने हमारे जनमानस के सभी स्तरों को गहरे तक प्रभावित किया है। याद आते हैं बचपन के रेलवे स्टेशन के जासूसी उपन्यासों से भरे स्टॉल। एक विशेष वर्ग में ये उपन्यास तब भी बहुत लोकप्रिय थे, आज भी हैं। इनके प्रसिद्ध चरित्र होते थे—विजय, विकास, जगत, जगन, खलनायक जासूस अमेरिका, इंग्लैंड और पाकिस्तान के थे और भारतीय जासूसों की दोस्ती में जान लगाने वाला जासूस था रूसी जासूस—बागारोफ। इन उपन्यासों से लेकर राजकपूर की फिल्मों तक और फिर इलाहाबाद, पटना, दिल्ली की सड़कों के किनारे कुल्हड़ की चाय पीते बुद्धिजीवियों तक मन के किसी कोने में कहीं-न-कहीं सोवियत संघ के सपने की प्रतिछाया थी। सोवियत लैंड जैसी आकर्षक पन्नों वाली पत्रिकाएं आती थीं, जिनमें खेतों, कारखानों के आगे आकर्षक हँसी हँसती रूसी लड़कियों को हम चाव से देखते रहते। सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार और मॉस्को जाने की इच्छा भारतीय मध्य स्तरीय बुद्धिजीवी के मन में कुलबुलाती रहती।

सपनों का महल टूटा, सोवियत संघ रूस में बदल गया। महाशक्ति महज एक शक्ति, वह भी केवल सामरिक क्षेत्र में सीमित रह गई।

महेश दर्पण की 'पूश्किन के देस' में शीर्षक देखते ही ये सारे विचार आए और यह भी लगा कि कैसे पूरी एक पीढ़ी सपनों को झटके से तोड़कर दूसरे सपनों की तलाश में लग जाती है। महेश एक साहित्यिक पत्रकार है और जैसा अपेक्षित था, इस संस्मरणात्मक यात्रा वृतांत में उन्होंने रूसी जनमानस में आ रहे बदलाव को ईमानदारी और सहजता से अभिव्यक्ति दी है।

लेकिन 'पूश्किन का देस' एक संस्मरणात्मक यात्रा-वृत्तांत से और आगे जाती है, उस क्षितिज तक जहां विधाओं के दायरे में किसी कृति को बांधना बेमानी हो जाता है। अनिल जयविजय, स्वेतलाना, नाद्या, लीना, बाबुश्का, मामुष्का प्रमाणित व्यक्ति होंगे, हो सकते हैं, पर कृति से गुजरते समय ये सभी संवेदनशील चरित्र बनकर एक अलग ही छाप हृदय पर देते हैं। कुछ वैसी ही अनुभूति के साथ, जो महादेवी के रेखाचित्रों को पढ़ते समय होती है। शुरुआत में महेश खुद लिखते हैं, ''यह यात्रा विवरण मेरे लिए स्वप्न और यथार्थ के बीच के कुछ दिनों का ऐसा ब्योरा है जिसमें सब कुछ जस का तस रख दिया गया है।'' सपने और यथार्थ की अनोखी मिलावट ही इस कृति को विशिष्ट बनाती है।

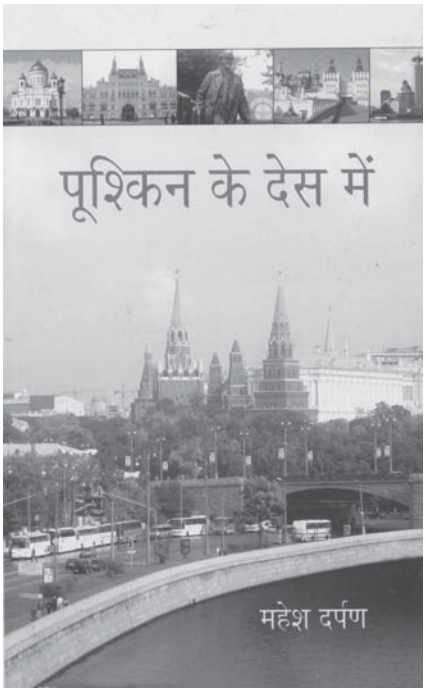

मॉस्को कहीं लेखक को हर्षाता है, भारत के पर्वतीय इलाकों की बारिश याद दिलाता है तो कहीं उनके मन को आशंकित भी करता है। कभी सार्वजनिक खेती के काम में लाने वाली जमीन पर यूरोपियन सहायता से सरकार अणु अवशेष दफन करने की योजना बना रही है। इस प्रयोग को क्षेत्रीय लोग अपनी कब्र बनना मान रहे हैं। दफ़्तरों में भ्रष्टाचार का बोलबाला है। ऐसी बातें भारतीय मानस को कुछ खास नहीं चौंकाती, लेकिन अच्छा होता अगर महेश का सजग पत्रकार कुछ और रूसियों से बात कर पुराने और नए रूस के अंतरों की पड़ताल कर पाता, पर हमेश का साहित्यकार जरूर वादों-प्रतिवादों का चश्मा फेंककर एक बदलते समाज की टूटती-बनती संवेदनाओं का संप्रेषण करने में सफल होता है।

गोर्बाचोव-येल्तसिन-प्यूतिन जैसे पड़ावों को पार करते हुए रूस तेजी से बदलता जा रहा है। कभी जिन चर्चों को तोड़ा गया था, वही चर्च फिर से बनते ही जा रहे हैं और तोड़ने वालों के बुतों को हटाया जा रहा है। सरकारी लालफीताशाही और सख्त होती जा रही है। पुलिस की ज्यादतियां बढ़ रही हैं। जवाबदेही के लिए कहीं कोई नहीं है। महेश निसंग भाव से घटनाओं के बाद घटनाओं के पृष्ठ खोलते चले जाते हैं—''एक जगह पर सबवे पर पुलिस वाले ने एक रूसी लड़की को पकड़ लिया है। वह मॉस्को के बाहर से आई

है। नियम है कि तीन दिन तक आप बिना रजिस्ट्रेशन किसी शहर में रह सकते हैं, लेकिन आपके पास टिकट होना चाहिए ताकि यह जाहिर हो सके कि आप बाहर से आए हैं। सहयोगी ने बताया कि कैसे पिछले दिनों एक लड़की को रात भर पुलिस ने रोके रखा। उसके साथ रेप किया।''

समाज में उन्मुक्तता भी बेतहाशा बढ़ी है। पुराना मॉस्को ढह रहा है, नया निर्माण हो रहा है—अत्याधुनिक होटलों का, मल्टी कांप्लेक्सों का, कैसिनों का। ऐसा नहीं कि मिनी अमेरिका मॉस्को में उतर आया है, बल्कि लगता है कि बाजार की होड़ में अमेरिका के लास वेगास जैसे चकाचौंध भरने वाले शहरों को मॉस्को बहुत जल्द ही पीछे छोड़ देगा। युवाओं में यौन उन्मुक्तता खुलकर दिखाई देती है। ये सब एक दूसरे में मस्त हैं, अपने क्षण के भीतर, क्षण की परिधि में, क्षण का पूरा आनंद उठाते हुए। इनकी नजर और कहीं नहीं जाती, पर इस शान-शौकत के पीछे भयावह अंधेरे भी हैं। महेश बताते हैं कि कम लोग जानते होंगे कि रूस से देह व्यापार के लिए स्पने ले जाने वाली लड़कियों की कीमत बताई जाती है सिर्फ 1500 डॉलर। टर्की के लिए भी यहां से जाने वाली लड़कियों की तादाद काफी है।

झटके से महेश पाठक को एक दूसरी ही यात्रा पर ले चलते हैं। यह यात्रा है रूस के द्वारा की गई सुदीर्घ सांस्कृतिक यात्रा। मॉस्को तो खैर शहर ही है मूर्तियों, संग्रहालयों और भव्य प्रासादों का। महेश हमारा पहला परिचय मायकोवस्की से कराते हैं, जो कहा करता था, 'तुम्हारा प्रेम मुर्दाबाद, जो एक माल के रूप में बिकता है। 100 रुपये में प्रेम।' मायोकोवस्की की पूरी जिंदगी महेश की जबानी पढ़ना एक अनुभव है। फिर हम दो-चार होते हैं तालस्तोय की स्मृतियों के साथ और फिर-फिर चेखव। इन सफरों में महेश की कलम एक कैमरे की आंख लिए गांवों का रूस, चर्चों, भव्य मूर्तियों सभी चित्र अंकित करते-करते बीच-बीच में निष्कर्ष निकालती रहती है—मास्को दौड़ रहा है। मास्को ऊंघ रहा है। तेज रफ़्तार है मास्को। मस्तचाल भी है मास्को। गर्मी बरदाश्त न कर पा रहा मास्को है तो तैयारियों में लगा मास्को भी है। चित्रों और संवेदनशील निष्कर्षों के मध्य महेश सैर कराते रहते हैं—मॉस्को विश्वविद्यालय, पंडित नेहरू की मूर्ति, जिसके सामने है तेजी से बदलते मंजर का रूस, मदल लाल मधु से मुलाकात या फिर किसी रूसी दफ़्तर का भारतीय हो चला मिजाज। इस तेज यात्रा में जो बड़े स्टेशन आते हैं और जहां गाड़ी ज्यादा देर तक रुक जाती है, वे हैं महेश के और हम सबके प्रिय रूसी लेखकों से संबंधित संग्रहालय।

हम चल पड़ते हैं यस्नाया पल्माना की ओर, जो लेव तॉल्स्तॉय का गांव है। जिस ट्रेन में बैठते हैं, वह नीले और सफेद रंग की पट्टी में रंगी हुई है और खासतौर पर तालस्ताय के गांव के लिए चलाई जाती है। मन में यह हूक पढ़ते समय जरूर उठती है कि हम अपने कलाकारों को ऐसी श्रद्धांजलि क्यों नहीं दे पाते? बहुत हुआ तो बड़े-बड़े पुरस्कारों की बड़ी-बड़ी राशि में एक दूसरी ही राजनीति को हवा देने लगते हैं। महेश ने तालस्ताय का चित्रण बहुत ही आत्मीय रंगों से किया है। इस महान रचनाकार के जीवन के विविध पक्षों से संबंधित कुछ नई जानकारियां भी मिलती हैं। फिर महेश के साथ हमें कुछ घंटे बिताने हैं चेखव के साथ। चेखव के बारे में इतनी सारी जानकारी एक यात्रा-वृत्तांत में शायद ही कहीं और मिले और कमोबेश यही बात पूश्किन पर भी लागू होती है। महेश के साथ हम भी आश्चर्य करते हैं कि रूसी 'पूश्किन' हिंदी में आकर क्यों 'पुश्किन' हो गया। पूश्किन के जीवन की हर छोटी-बड़ी घटना से पाठक का सीधा साक्षात्कार होता है। आस्त्रोवस्की, गोगोल आदि अन्य कलाकार भी इसी तरह परिचय देते चले जाते हैं।

अतीत की इन स्मृतियों के समांतर बह रहा है एक नई उथल-पुथल का रूसी समाज। आतंकवाद से ग्रस्त, आशंकाओं से ग्रस्त, दफ़्तरी तानाशाही से ग्रस्त, बंधनों को तोड़ने की कोशिश करता, यौन उन्मुक्त, वर्जनाओं से मुक्त होने के लिए छटपटाता समाज, बहुत अमीर और बहुत गरीब समाज। चेचन्या के आतंकवादी स्कूली बच्चों को बंधक बना लेते हैं। आतंकवादी महिला मेट्रो स्टेशन पर बम विस्फोट कर रही हैं। हर तरफ एक असुरक्षा है, शक के दायरे हैं, यहूदियो देश छोड़ो—कहने वाले पोस्टर हैं—पढ़ते-पढ़ते एक परिचित, पर भयावह अहसास मन में उठने लगता है।

इन्हीं कुछ चित्रों—कुछ आत्मीय, कुछ निजी तो कुछ बिखरे से लैंडस्केप के संकलन-संपादन का नतीजा है—'पूश्किन के देस में।' यहां संस्मरण नहीं हैं, यात्रा वृत्तांत भी नहीं, बस अनेक चित्र हैं। लगता है एक फोटोग्राफर ट्रेन में बेठा है—कभी कैमरा बाहर के चित्र खींचता है तो कभी डिब्बे के अंदर के आत्मीय परिवेश के और ये सारे चित्र कहीं-न-कहीं उन सुगबुगाती करवटों को भी अभिव्यक्ति देते हैं, जो रूसी घटाटोप कोहरे के बाहरी आवरण को भेद नहीं पातीं।

अत्यंत पठनीय इस कृति के पूरा होने के बाद जो अखरता है, वह यही कि महेश के पत्रकार पर उनका साहित्यकार पूरी तरह हावी रहता है और सोवियतसंघ के विघटन से आज के रूस की इस नातिदीर्घ यात्रा में कई अनुत्तरित सवाल अनुत्तरित ही रह जाते हैं। महेश ने ऐसे सवालों से बचने की कोशिश जानबूझकर की है—ऐसा लगता है। गोर्की के बारे में भी कोई जिक्र न होना चौंकाता है। क्या महेश सत्तर वर्ष के सोवियत प्रयोग और उससे जुड़े लेखकों को छोड़ सीधे आज के रूस और क्लासिकी साहित्य का एक सूत्रीय संबंध जोड़ना चाहते हैं? दोस्तोएवोस्की की अनुपस्थिति और उनके प्रति लेखक की खामोशी कानों को बहरा करने वाली खामोशी है। सोल्झेनितसिन और बोरिस पास्तरनाक भी कहीं नजर नहीं आते। एक महत्त्वपूर्ण कृति में प्रूफ की त्रुटियां विशेष रूप से खलती हैं। यही बात चित्रों पर भी लागू होती है। अगर आकर्षक सज्जा में चित्र प्रस्तुत किए जाते तो कृति का प्रभाव और भी बढ़ता, इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं।

किंतु यह भी निर्विवाद है कि सोवियत संघ के ऊपर लिखी गई अनेक पुस्तकों के बाद आज के रूसी हालातों से पाठक को परिचित कराने वाली यह हिंदी की पहली महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। महेश दर्पण की सुपरिचित शैली ही इस कृति को यात्रा वृत्तांत या संस्मरण से बंधने नहीं देती। कहानी सुनने जैसा या किसी उपन्यास में डुबकी लगाकर निकलने का जो आनंद होता है, वैसी ही अनुभूति इस कृति से गुजरने पर होती है।

पूश्किन के देस में/महेश दर्पण/कल्याणी शिक्षा परिषद, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-110002 मूल्य : ₹ 300

वरिष्ठ प्रवक्ता (हिंदी), वायनाड, केरल

संगीत

शहनाई के उस्ताद की स्मृति

ज्योतिष जोशी

शहनाई को साधकर उसे नायाब बना देने वाले उस्ताद बिस्मिल्ला खां से बेहद अंतरंग संवाद कर यतीन्द्र मिश्र ने 'सुर की बारादरी' पुस्तक लिखी है। यतीन्द्र कवि तो हैं ही, कलाओं में रमने वाले सहृदय भावुक भी हैं, सो यह पुस्तक बिस्मिल्ला खां के बहाने संगीत की अंतरंग यात्रा भी कराती है और शहनाई गूंज उठती है। यह पुस्तक संवाद के अनेक छोटे-छोटे लेखों से सजी है, जिसमें शहनाई सम्राट बिस्मिल्ला खां अपने पूरे व्यक्तित्व में खुल जाते हैं। 'अपनी बात' में यतीन्द्र ठीक ही कहते हैं, 'यह पुस्तक 'सुर की बिरादरी' उनके साथ हुई अनौपचारिक बैठकों में बातचीत पर आधारित है। मैंने अधिकांश तथ्य व संवाद उसी तरह यहां रखे हैं, जिसे तरह खां साहब ने मुझसे कहा था। इसके अलावा पिछले कई वर्षों में उनको सुनते हुए जो मैंने अनुभव इकट्ठे किए, उन्हें भी यहां शब्दबद्ध किया है।'

जाहिर है, यतीन्द्र ने तथ्यों को सही परिप्रेक्ष्य में रखते हुए उस्ताद से अपनी जिस आत्मीयता का परिचय दिया है, वह महत्त्वपूर्ण है। सरस भाषा में संगीत के मीठे बोलों की तरह यतीन्द्र की पंक्तियां पाठकों को रससिक्त कर देती हैं...'चन्द्रप्रभा और मंगल भैरव—उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में ये दो राग ऐसे हैं, जिनकी चर्चा किए बग़ैर ख़ां साहब की बुजुर्ग तबीयत को आराम नहीं मिलता था। उनसे आप जब कभी भी रागों की बात करें या घरानेदारी की चर्चा में उतर आएं, तो बिस्मिल्ला ख़ां के चेहरे पर अर्थपूर्ण मुस्कुराहट के साथ लगभग किसी गाने के स्थायी या बिसरा दी गई नज़्म के मिसरे की तरह मंगल भैरव और चन्द्रप्रभा की बात आ जाती थी।'

इस छोटी, मगर महत्त्वपूर्ण पुस्तक में तीन खण्ड हैं—'नौबत खाने में इबादत, 'सच्चे सुर की तलाश में हूं' और 'शहनाई का छंद'। पहले खंड में यतीन्द्र ने छोटे-छोटे लेखों के जरिए उस्ताद के महत्त्व को रेखांकित किया है। इसी खंड में उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ां यानी अमीरुद्दीन का जीवन-परिचय भी है। डुमरांव, जि. शाहाबाद (बिहार) में जन्मा यह कलाकार एक दिन बनारस की पहचान बन जाएगा, कौन जानता था? आलम तो यह है कि आज अधिकतर लोग उन्हें बनारस का ही जानते हैं, शाहाबाद बहुत पीछे छूट गया है, पर स्वयं वे अपने को उस माटी से अलग नहीं देखते थे। यतीन्द्र ने अमीरुद्दीन के बचपन के संघर्ष और अभ्यास को बहुत सलीके से प्रस्तुत किया है जिसमें जीवनी की रसमय चाशनी है—'अमीरुद्दीन की उम्र अभी चौदह साल है यानी बिस्मिल्ला ख़ां की उम्र अभी चौदह साल है।

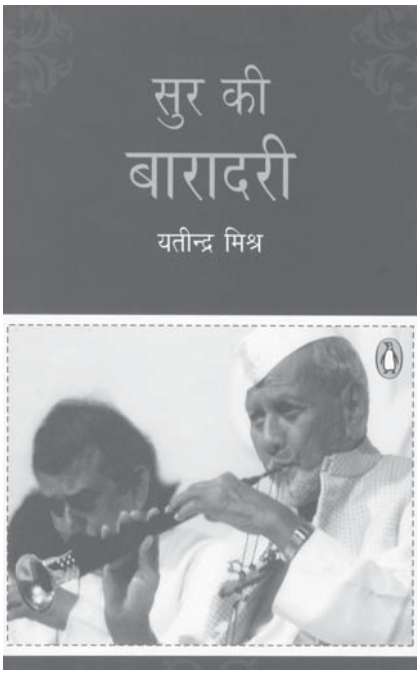

मसलन शम्सुद्दीन (उनके बड़े भाई) की उम्र अभी बीस साल है। वही काशी है। वही पुराना बालाजी का मंदिर, जहां बिस्मिल्ला ख़ां को नौबत ख़ां से रियाज के लिए जाना पड़ता है, मगर एक रास्ता है बालाजी मंदिर तक जाने का। यह रास्ता दालमण्डी होकर जाता है। यह रास्ता रसूलनबाई और बतलनबाई के कोठे से होकर जाता है। इस रास्ते से अमीरुद्दीन को जाना अच्छा लगता है। इस रास्ते से वह शम्सुद्दीन से छिपकर जाता है। इस रास्ते में न जाने कितने तरह के बोल बनाव कभी ठुमरी, कभी टप्पे, कभी दादरा के मार्फ़त ड्योढ़ी तक पहुंचते रहते हैं। रसूलन और बतूलन जब गाती हैं, तब अमीरुद्दीन को खुशी मिलती है। बिल्कुल ईद वाले दिन ईदी पाने जितनी खुशी। अब्बाजान नहीं जानते कि अमीरुद्दीन को चुपचाप कोठे के नीचे खड़े-खड़े संगीत की तालीम मिल रही है। मामू जान चारों टाइम चारों पहर के राग दुरुस्त करने में इस कदर उलझे हैं कि उनका बरखुरदार क्या कर रहा है, इस बात से अनजान हैं।'

यानी इस कदर संगीत का दीवानापन बिस्मिल्ला ख़ां को उस्ताद बनने में मदद करता है। उनके दो मामा थे, जो अपने जमाने में शहनाई के उस्ताद माने जाते थे—सादिक हुसैन तथा अलीबख़्श। बिस्मिल्ला ख़ां ने इन्हीं की शार्गिदी में अपने फ़न को परवान चढ़ाया। बिस्मिल्ला ख़ां को तालीम की रवायत के साथ-साथ दूसरी उन तमाम चीज़ों का शौक रहा, जिनसे वे अपनी कला को निखार सकें। बड़े भाई शम्सुद्दीन ने चोरी पकड़ी और अल्लाह का वास्ता दे गई। बताया गया कि कोठेवालियां नापाक होती हैं, इससे अल्लाह नाराज़ होते हैं। अमीरुद्दीन दो-चार दिन तो इस सबक के कायल रहे, पर रसूलन के कोठे पर गए बिना

गुजारा न था। अबकी बार भी पकड़े गए, फिर अल्लाह की नाराज़गी बताई गई, पर मसूमियत से बोले, 'ख़ुदा क्यों नाराज़ होने लगा। दिल से निकली आवाज़ में पाक-नापाक क्या होता है?'

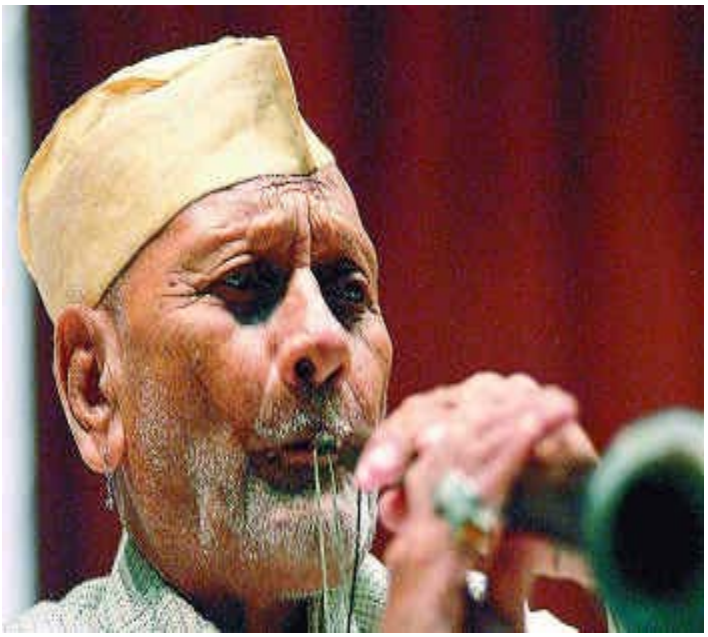

बिस्मिल्ला ख़ां बचपन से ही अपनी धुन के पक्के और फक्कड़ मिज़ाज़ साधक थे सो अपने को जिस तरह भी सिद्ध कर सकते थे, किया। इस खंड के अनेक छोटे-छोटे लेखों में यतीन्द्र ने उस्ताद से बातचीत कर उनके जीवन के कई अनछुए पक्षों पर रोशनी डाली है, जिनके बारे में अधिकांश लोग अपरिचित हैं। मसलन, 'वे नमाज़ के बाद सजदे में गिड़गिड़ाते हैं—मेरे मालिक एक सुर बख़्श दे। सुर में वह तासीर पैदा कर कि आंखों से सच्चे मोती की तरह अनगढ़ आंसू निकल आएं।' इसी खंड का एक ग़ौरतलब तथ्य है कि उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ां मुहर्रम के महीने में जब पूरे दस दिनों तक अज़ादारी का माहौल रहता है, संगीत और शहनाई से दूर रहते थे। उस्ताद का बचपन बेहद गरीबी में गुज़रा और शहनाईबाज़ी बड़ी तंगहाली वाली रही। इस नायाब उस्ताद को बनारस की कुलसुम हलवाइन की कचौड़ी वाली दुकान तथा गीताबाली और सुलोचना की याद ताज़िंदगी बनी रही। बालाजी मंदिर पर शहनाई बजाकर एक अठन्नी मेहनताना पाने के बाद सुलोचना की किसी फिल्म का टिकट खरीदना लाजमी हो गया था। एक दिन का वाकया है—

'किसी दिन एक शिष्या ने डरते-डरते ख़ां साहब को टोका, 'बाबा! आप यह क्या करते हैं, इतनी प्रतिष्ठा है आपकी। अब तो आपको भारतरत्न भी मिल चुका है, यह फटा तहमद न पहना करें। अच्छा नहीं लगता, जब भी कोई आता है, आप इसी फटे तहमद में सबसे मिलते हैं।' ख़ां साहब मुस्कुराए। लाड़ से भरकर बोले, 'धत्! पगली ई भारतरत्न हमको शहनईया पर मिला है, लुंगिया पे नाहीं। तुम लोगों की तरह बनाव-सिंगार देखते रहते, तो उमर ही बीत जाती, हो चुकती शहनाई। तब क्या ख़ाक रियाज़ हो पाता। ठीक है बिटिया, आगे से नहीं पहनेंगे, मगर इतना बताए देते हैं कि मालिक से यही दुआ है—फटा सुर न बख़्शो। गुलियांग का क्या है, आज फटी है, तो कल सी जाएगी।'

पुस्तक का दूसरा खण्ड है, 'सच्चे सुर की तलाश में हूं।' यह खण्ड यतीन्द्र की उस्ताद से लंबी बातचीत का खण्ड है, जो दिलचस्प के साथ मार्मिक भी है। इसमें उस्ताद ने संगीत के साथ अपने जीवन की साधना के प्रसंगों को बताया है। यतीन्द्र के इस सवाल पर कि इस मुक़ाम पर आकर आपको कैसा महसूस होता है?—देखिए इतने बड़े कलाकार की विनम्रता,१९'अपने मालिक से रोज मांगता हूं, मेरे सुरों में कुछ ऐसा कर दे कि मज़ा आ जाए। अभी कच्चा है मेरा काम। ईमान से कहता हूं अभी सच्चे सुर की तलाश में हूं कि कुछ सुर बख़्श दें, वो परवरदिगार कि चाहे जब षडज बोलाऊं, ऋषभ या कोई भी स्वर, अंदर-बाहर सब तरफ हलचल मच जाए। हमारे मामूजान ने किसी की अनूठी गायकी पर कभी यह नहीं कहा कि बड़ा बेजोड़ गायक है, बल्कि हमेशा कहते, 'मियां मालिक की दुआ है।' बस वही नहीं है मेरे पास। मेरे मालिक की दुआ लग जाए। इस गंगा मइया के पानी का सुरीलापन छू जाए। बस इतना चाहता हूं। कंठ में एक सुर आए, उसके साथ सच्चे मोती की तरह आंखों में आंसू आ जाएं, तभी मज़ा है।'

पुस्तक का अंतिम खंड है—'शहनाई का छंद।' इस खंड में भी 'संगीत के पैग़म्बर', काशी और बिस्मिल्ला खां, '15 अगस्त, 1947 और राग काफ़', 'पंचगंगा का शुद्ध पंचम', 'आंसुओं का नज़राना', 'बिस्मिल्ला की मींड़', 'चन्द्रप्रभा और मंगल भैरव', 'ज़ियारत, अज़ादारी और इमामबाड़े', 'कजरी', 'सहृदय उस्ताद', 'धूम मची है धूम', 'यादों की बारादरी में' तथा 'अंतिम विदाई हो गंगा माई' शीर्षक लेखों में यतीन्द्र ने उस्ताद के जीवन और उनकी सादगी को रेखांकित किया है। उस्ताद अपने कथन में बेलाग हैं और सच कहने में ज़रा भी झिझक नहीं। इसी खंड में एक जगह बिस्मिल्ला ख़ां कहते हैं, 'भइया मैं विदेश क्यों जाऊं? और वहां जाकर काहे के लिए जड़ों से कटकर बसूं। तुम क्या वहां गंगा ला सकते हो? बाबा विश्वनाथ को ला सकते हो? फिर मेरी ज़िंदगी से क्यूं चांद-तारों के वैभव से दीप्त, अपने वर का, शहर का सुख छीनते हो? बताओ क्यूं? मैं काशी छोड़कर क्यूंकर जाऊं बाहर? और अगर बाहर वाले मुझे इतना प्रेम करते हैं, तो मंगला माई (मंगला गौरी का मंदिर), गंगा, बाबा विश्वनाथ और पक्का, महाल, सभी कुछ बाहर लेकर चलें।'

इस तरह अनेक तथ्यों और सुर के इस बादशाह की ज़िंदगी की ढेरों रंगतों को सामने रखती यतीन्द्र की यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। कई दफ़ा तो पुस्तक की संक्षिप्तता खलती है; लगता है कि पुस्तक थोड़ी और बड़ी होती, कुछ और डूबने को जी होता। यतीन्द्र संगीत के जानकार हैं। कवि हैं, सो उनकी भाषा की तरलता भिगो देती है। सच में गिरिजा देवी और सोनल मानसिंह के बाद उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ां पर यह पुस्तक लिखकर यतीन्द्र ने हिन्दी में ऐसी पुस्तकों के अभाव की बड़ी पूर्ति की है? उम्मीद करनी चाहिए कि वे अपनी यात्रा इसी तरह जारी रखेंगे।

सुर की बारादरी (शहनाई नवाज़ बिस्मिल्ला ख़ां पर एकाग्र)—यतीन्द्र मिश्र। पेंगुइन-यात्रा बुक्स, 11, कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110017, मूल्य : ₹ 99

डी-4/37, एम.आई.जी., सेक्टर-15, रोहिणी, दिल्ली-110089, मो. 9818603319

मीडिया

टेलीविजन : सिद्धांत एवं व्यवहार का तनावमूलक सहअस्तित्व

रामप्रकाश द्विवेदी

मीडिया कर्म अब हमारे समाज की प्रमुख जरूरत बन गया है। जैसे एक समय कवि, लेखक और कलाकार आम जनता को राह दिखाते थे, उसी श्रेणी में मीडियाकर्मी और पत्रकार आ जुटे हैं। मीडिया, साहित्य के बरक्स अपयश का अधिक शिकार हुआ है। इसके पीछे पूंजी के प्रति और पूंजीजनित उत्पादों के लिए हमारी मानसिक दुविधा अधिक जिम्मेदार है। साहित्य-सृजित मूल्यों और मीडिया-उत्पादित मूल्यों में टकराहट हमारे इस द्वंद्व और दुविधा का परिणाम है। वर्तिका नंदा मीडियाकर्मी होने के साथ-साथ एक सुघड़ कवयित्री भी हैं और फिलहाल मीडिया शिक्षण से रू-ब-रू हैं। ऐसे में ये तीनों अनुभव (मीडिया कर्म, काव्य रचना और मीडिया शिक्षण) उनकी पुस्तक 'टेलीविजन और क्राइम रिपोर्टिंग' में सहज ही उपस्थित हों तो आश्चर्य कैसा।

वर्तिका नंदा की 'टेलीविजन और क्राइम रिपोर्टिंग' पुस्तक एक माध्यम के रूप में टेलीविजन की ताकत का एहसास कराती है और प्रिंट माध्यम की तुलना में वह अलग कैसे है, इसके लिए प्रशिक्षित करती है। अधिकांश हिंदी पुस्तकें जहां टेलीविजन पर प्रसारित कार्यक्रमों का मूल्यांकन और उसके सामाजिक प्रभाव का आकलन करती हैं, वहीं वर्तिका नंदा की यह पुस्तक टेलीविजन कार्यक्रम के निर्माण पर रोशनी डालती है और इस निर्माण-प्रक्रिया के तकनीकी पहलुओं से हमें परिचित कराती है।

साहित्य सृजन के समानांतर मीडिया के उत्पादन में नित नई तकनीकों का इस्तेमाल हो रहा है और इनसे अनभिज्ञ होना लगभग निरक्षर होने जैसा है, इसलिए यह पुस्तक मीडिया कर्म से जुड़ने के आकांक्षी हर व्यक्ति के लिए एक सार्थक, समुचित और जरूरी प्रशिक्षण उपलब्ध कराती है। हमारे समाज में खबरों की खपत और खासतौर पर अपराध खबरों को जानने-पाने की उत्कट अभिलाषा पैदा हुई है। अपराध हमारे मनोविज्ञान को सीधे संबोधित करता है, इसलिए टेलीविजन में क्राइम रिपोर्टिंग महत्त्वपूर्ण हो चली है। वर्तिका नंदा समाज के इस बदलते मिजाज और टेलीविजन चैनलों पर उठती इसकी अनुगूंज को समझती हैं और अपनी पुस्तक में टेलीविजन के सामान्य परिप्रेक्ष्य को उभारते हुए भी उसे क्राइम रिपोर्टिंग पर फोकस करती हैं। एक तरह से वह मानती हैं कि पूंजी और टी.आर.पी. के दबाव से गुजरते इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए क्राइम रिपोर्टिंग ने संजीवनी प्रदान की है। यह इसलिए भी जरूरी था, क्योंकि प्रसारण चौबीसों घंटे बिना रुके, बिना सुस्ताए चलते रहना है। अपराध से संबंधित खबरें एक समय दबी-छिपी रहती थीं, लेकिन अब वे हेडलाइन बनने में अग्रणी हैं और अपना डंका पीट रही हैं।

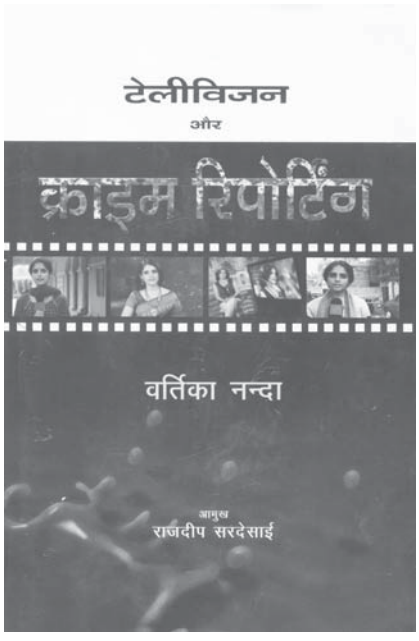

'टेलीजविजन और क्राइम रिपोर्टिंग' पुस्तक को आवयविक ढंग से नियोजित किया गया है। सात अध्यायों में विभक्त यह पुस्तक अपने पहले अध्याय में टेलीविजन के महत्त्व और अपराध खबरों की उपयोगिता पर अनेक उदाहरणों के माध्यम से दृष्टिपात करती है। यह अध्याय पुस्तक की पीठिका के तौर पर आया है और बदलते सामाजिक परिदृश्य का साक्ष्य उपस्थित करता है। दूरदर्शन के दौर से आगे निकल चुके टी.वी. प्रसार की चुनौतियों, जरूरतों और दर्शकों के बदलते मनोविज्ञान को विभिन्न दृष्टांतों के जरिए इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। टेलीविजन के विकास और उसके बदलते तेवर को फास्ट-फारवर्ड शैली में लेखिका ने प्रस्तुत कर दिया, जो उपयोगी ही रहा है। लेखिका बड़े कायदे से इस मर्म को पहचान पाती है कि 21वीं सदी में चैनल से दर्शकों, उसके मालिकों आदि की अपेक्षाएं क्या हैं? वह लिखती हैं कि—'चैनल मालिक भी जान गए कि अपराध और आतंक को सबसे ऊंचे दाम पर बेचा जा सकता है और इसके चलते मुनाफे को तुरंत कैश भी किया जा सकता है। अपराध में आतंक, रहस्य, रोमांच, राजनीति, जिज्ञासा, सेक्स और मनोरंजन सब कुछ है। इसे सबसे अधिक बिकाऊ प्रोडक्ट माना गया और इसी कारण सूचनारंजन (इंफोटेनमेंट) का उदय हुआ, जो आम न्यूज मीडिया पर काफी हद तक हावी है।' यह बदलते दर्शक वर्ग की शिनाख्त है जिसे वर्तिका नंदा पकड़ती हैं। मिथ यह है कि

लोग कुछ 'उच्चादर्श' परक बातें देखना चाहते हैं, लेकिन सच्चाई यह है कि हम बहुत-सी मिश्रित इच्छाओं को एक साथ संतुष्ट करना चाहते हैं। यह हमारा बड़ा मनोवैज्ञानिक बदलाव है, जिसे टेलीविजन व्यवसायी पहचानते हैं और हमारी डायोकॉटमी (चाहत और अभिव्यक्ति का द्वंद्व) का फायदा उठाते हैं। इस पुस्तक में ब्लैक एंड व्हाइट ढंग से प्रसारण माध्यम, उन पर प्रसारित कार्यक्रमों की समीक्षा नहीं की गई है, अपितु उनके संश्लिष्ट संबंधों को पुख्ता तौर पर पहचानने का बहुआयामी उद्यम मिलता है। लेखिका के लिए सैद्धांतिकी गढ़कर सीधे-सीधे निंदा-स्तुति करना आसान होता, परंतु वह टेलीविजन के व्यावहारिक पक्ष से जुड़ी होने के चलते इस माध्यम की वास्तविक कठिनाइयों से दो-चार होती है। पूरी पुस्तक में व्यावहारिकता का यही पुट इसे प्रैक्टिशनर टी.वी. पत्रकार के लिए उपयोगी बना देता है।

अपराध पत्रकारिता के कई आयाम विकसित हो चुके हैं। सामाजिक-राजनीतिक अपराधों के साथ ही आर्थिक अपराधों में कई गुणा इजाफा हुआ है। इसी प्रकार कंप्यूटर जनित सायबर अपराध भी हमारे समाज और समय की बड़ी चुनौती बनते जा रहे हैं। नए तरह के अपराध न केवल उनकी नियंत्रक संस्थाओं, अपितु उनको कवर करने वाले पत्रकारों के लिए भी नई चुनौती पेश करते हैं। सायबर क्राइम को समझने के लिए पत्रकार को इस तकनीकी की परिचयात्मक जानकारी आवश्यक होती है। वर्तिका नंदा तकनीकी जानकारियों को भी पत्रकारिता के लिए एक योग्यता के रूप में प्रस्तावित करती हैं। इस प्रकार वे पत्रकारिता के क्षेत्र में आए कौशलगत बदलाव को रेखांकित करती हैं।

पुस्तक का मकसद साफ करते हुए वर्तिका 'अपनी तरफ से' लिखती हैं कि, ''यह किताब मीडिया के नव अंकुरों के अलावा उन सभी के लिए लिखी गई है, जो मीडिया में जीते तो हैं, पर ठहरकर अपने रोजमर्रा के काम को खुद आंक नहीं पाते। यह किताब मेरी अपनी अपराध रिपोर्टिंग की यात्रा और मीडिया शिक्षण के युवा अनुभवों से निकली है।'' यानी पुस्तक के तीन बड़े आयाम हैं— नए पत्रकारों को तैयार करना, अपराध पत्रकारों की क्षमता और दक्षता में इजाफा करना और अपराध पत्रकारिता का मूल्यांकन प्रस्तुत करना। अपने इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वर्तिका जिस पर सबसे अधिक भरोसा करती हैं, वह है उनकी अपराध रिपोर्टिंग की यात्रा और इससे जुड़े उनके अनुभव। हालांकि वे इस अनुभव के साथ 'युवा' विशेषण भी जोड़ देती हैं।

खबरों के लिए सूत्र और स्रोत निहायत जरूरी होते हैं। पुस्तक का तीसरा अध्याय इसी से संबंधित है। टेलीविजन चैनल आपसी प्रतिस्पर्धा में भी अपना संचालन करते हैं। दूसरे चैनलों से न पिछड़ने का दबाव लगातार रिपोर्टर और चैनल पर होता है। ऐसे में समाचार स्रोतों पर पकड़ और उनसे विश्वसनीय संपर्क आपको सहूलियत प्रदान करता है। अपराध पत्रकार के लिए पुलिस, विभिन्न जांच एजेंसियां, संवाद समितियां, समाचार-पत्र, अग्निशमन जैसी आपात सेवाएं, अन्य टी.वी. चैनल, पीड़ित, आमजन, अदालतें, ई-मेल, एस.एम.एस. आदि विभिन्न स्रोत कारगर होते हैं। हां यह जरूर है कि इन स्रोतों से प्राप्त खबरों की पुष्टि अत्यंत सावधानी और धैर्य के साथ करनी चाहिए अन्यथा यह पत्रकार और चैनल दोनों के लिए हास्यास्पद स्थिति का सबब बन जाएगा। पुस्तक खबर के स्रोत के विकास और स्रोत से प्राप्त खबरों के परीक्षण के लिए जरूरी टिप्स प्रदान करती है। अपराध पत्रकार के लिए खबरों को एकत्र करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसका प्रभावशाली प्रसारण भी हो सके, इसे सुनिश्चित करना भी जरूरी है। इसके लिए उसे न्यूजरूम के व्याकरण तथा उसके परिचालन से परिचित होना आवश्यक है।

टी.वी. समाचार का निर्माण बहुत से उपकरणों के इस्तेमाल से हो पाता है। इन उपकरणों के परिचालन की सामान्य जानकारी के द्वारा कागज पर उतारी गई स्क्रिप्ट वास्तविक प्रसारण के लिए तैयार हो पाती है। पुस्तक में कैमरा, ट्रायपॉड, बैटरी, माइक गन और लेपल, माइक स्टैंड, विंडशील्ड, माइक की एक्सएल आर केबल, टेप, ह्वाइट बैलेंस के लिए सफेद कागज, रिफ्लेकटर, एसी एडाप्टर, लाइट, फ्रीजी लाइट और छतरी आदि विभिन्न छोटे-बड़े उपकरणों के महत्त्व एवं जरूरत को दर्शाया गया है। शूट के लिए आधारभूत जानकारी भी कायदे से दी गई है। संपादन कार्यक्रम निर्माण का महत्त्वपूर्ण चरण है। किताब टी.वी. समाचार के संपादन से जुड़े सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पहलुओं पर भी रोशनी डालती है।

पुस्तक के अंतिम अध्याय में इंटरव्यू, प्रेस कॉन्फ्रेंस और एंकरिंग से जुड़े पहलुओं पर चर्चा की गई है। इंटरव्यू के कई रूप हमारे सामने आ गए हैं। उनकी चर्चा पुस्तक में है। प्रेस कॉन्फ्रेंस से टी.वी. पत्रकार को रोजमर्रा दरपेश होना पड़ता है। सवाल करना और उसका सटीक उत्तर पाना हँसी-ठट्ठे का खेल नहीं है। विषय या मुद्दे की समुचित और गहरी जानकारी ही एक उपयुक्त प्रश्न का निर्माण करती है और उसको कुशलतापूर्वक रखना उत्तर प्राप्ति के लिए रास्ता आसान बना देता है। इसीलिए वर्तिका नंदा ने सवाल-जवाब को भी 'क्राफ्ट' की संज्ञा दी है। पुस्तक में पत्रकार खासतौर पर अपराध पत्रकार बनने के गुर करीने से संजोए गए हैं। विचार से लेकर व्यवहार तक, लेखन से लेकर प्रोडक्शन, संपादन तक, सब कुछ मौजूद है। अंत में टी.वी. शब्दावली भी दी गई है, जिससे टी.वी. समाचार के निर्माण एवं प्रसार में सहायता मिलती है।

वर्तिका नंदा ने पहले भी एक पुस्तक 'टेलीविज़न और अपराध पत्रकारिता' (भारतीय जनसंचार संस्थान, नई दिल्ली, 2005) लिखी है। प्रस्तुत पुस्तक उसी का परिष्कृत, परिवर्धित और अद्यतन संस्करण मानी जा सकती है।

आम पत्रकारों की चलायमान भाषा, बिना अंग्रेजी से दुश्मनी साधे पूरी पुस्तक की संप्रेषणीयता एवं पठनीयता में वृद्धि ही करती है। पत्रकारिता के क्षेत्र में उपस्थित होने के आकांक्षी विद्यार्थियों, पत्रकारिता के शिक्षण-प्रशिक्षण से जुड़े अध्यापकों, मीडिया समीक्षकों, सभी के लिए यह एक जरूरी पुस्तक है, भले ही इसके शीर्षक में जुड़े 'टेलीविजन' और 'क्राइम' शब्द इसके फोकस एरिया का संकेत देते हों।

टेलीविजन और क्राइम रिपोर्टिंग/वर्तिका नंदा/राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 500

अध्यक्ष, हिंदी पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, भीमराव अंबेडकर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110094, मो. 09868068787

जन्मशती

राधाकृष्ण : जिनकी जन्मशती का वर्ष है यह

विद्याभूषण

एक अर्सा हुआ, जब इस शहर में साहित्य का एक बहुरूपिया रहता था, जो तरह-तरह के शिल्प-अनुशासन की बहुतेरी चीजें अनथक लिखा करता था। उस विलक्षण व्यक्ति के बारे में मेरे मित्र काशीनाथ पांडेय ने सितंबर, 1969 के 'अभिज्ञान' मासिक में लिखा था कि—'भीड़ से अलग' किंतु निरंतर सक्रिय राधाकृष्ण इतिहास में आ चुका, रह जाएगा—मैं—हम, बहुत-से मिट जाएंगे।' आज के समय में, उनकी जन्मशती के अंधकारग्रस्त वर्ष में, हम अपनी यादों के एलबम में उनकी जितनी छवियों को देखें-परखें, लेकिन इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता कि उनके निंदकों-प्रशंसकों ने कब क्या लिखा या कहा था! अंततः इस व्यक्ति का सृजन कर्म उसके निजी जीवन के राग-विराग से बड़ा था, क्योंकि वही उसे समाज से जोड़ने वाली सार्थक कड़ी बना।

हिंदी के जाने-माने कई लोगों ने राधाकृष्ण के व्यक्ति और सर्जक के बारे में कितना, कहां और कैसा लिखा, इस पर एक रोचक अध्ययन हो सकता है, लेकिन इस चर्चा के दायरे से बाहर भी कई चीजें रही होंगी, जिन्होंने लाल बाबू नाम के संघर्षशील व्यक्ति को लेखक राधाकृष्ण के रूप में रूपांतरित किया होगा। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा की ओर से नीलाभ के शोध व संपादन में चार बृहत खंडों में प्रकाशित 'हिंदी साहित्य का मौखिक इतिहास' एक प्रमाण की तरह संदर्भित हो सकता है कि साहित्य का इतिहास सिर्फ पुस्तकों की तालिका से नहीं बनता, उसे अनेक जाने-अनजाने रचनाधर्मी व्यक्तियों की बहुस्तरीय क्रिया-प्रतिक्रिया और सामूहिक अंतःक्रिया की शृंखला आकार देती है।

राधाकृष्ण का जन्म 18 सितंबर, 1910 को और निधन 3 फरवरी, 1979 को हुआ था। देहावसान के 32 साल बाद आज भी शब्द संसार में वे याद किए जाते हैं तो जाहिर है कि उनके बहुवर्णी कृतित्व का व्यापक फलक हमें उनसे जोड़ता है। 'रामलीला', 'वरदान का फेर', 'उजागर की रेलगाड़ी', 'चंद्रगुप्त की तलवार', 'मूल्य', 'मुड़कर भी न देखा' और 'जिंदगी चलती रही' जैसी अनेक स्मारक कहानियों और 'फुटपाथ' और 'रूपांतर' जैसे बड़े फलक के उपन्यासों ने उन्हें हिंदी कथालेखन के पुरखों में जगह दी है। प्रेमचंद की परवर्ती पीढ़ी की कथायात्रा में विविध विधाओं—प्रकारों की दर्जनों कृतियों की मजबूत टेक भी उन्हें मूल्यवान बनाती है।

कथा और व्यंग्य लेखन को अटूट जारी रखते हुए राधाकृष्ण ने अपने समय और समाज की अन्य गतिविधियों में भी सक्रिय भागीदारी बनाए रखी थी। संपादन के विभिन्न कार्य-दायित्वों से वे लगातार जुड़ते रहे थे। उनकी कर्मभूमि के विस्तार का पहला संयोग प्रेमचंद की परख से उन्हें मिला था। उन्होंने ही राधाकृष्ण को अपनी पत्रिकाओं-हंस, माधुरी के संपादकीय दायित्व से जोड़ा था तो जाहिर है कि वे उनकी क्षमताओं के कायल थे। प्रेमचंद के निधन के बाद अमृत राय ने भी कहानी के संपादन में उनका सहयोग जारी रखा था। सन् 1940 में रामगढ़ (झारखंड) में आयोजित कांग्रेस के ऐतिहासिक अधिवेशन की स्मारिका का कुछ दायित्व डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने उनके हवाले किया था। इसके बाद सन् 1948 में बिहार सरकार ने जब साप्ताहिक आदिवासी का प्रकाशन रांची से शुरू किया तो उसके संपादन का भार राधाकृष्ण जी को ही सौंपा था, लेकिन आजादी के बाद कांग्रेसी शिविर में अन्य कई कलमकारों की तरह वे सक्रिय नहीं रहे, चूंकि राजनीतिक सक्रियता की जगह भाषा और साहित्य के मोर्चे पर काम करना उन्हें अधिक सही लगा था। उनके स्वविवेक की एक बानगी तब मिली, जब सन् 1978 में जयप्रकाश के केंद्रविरोधी जन आंदोलन के कार्यक्रमों को उनका सक्रिय समर्थन मिला था। वे अपने शहर रांची में छात्र युवा संघर्षवाहिनी के अध्यक्ष रहे।

लेखक और व्यक्ति के रूप में राधाकृष्ण को जानने के लिए उन पर लिखे गए संस्मरणों से मदद मिलती है। इस सिलसिले में उनके दो आलेखों को आत्मकथ्य की तरह पढ़ा जा सकता है। पटना से प्रकाशित अपने

समय की सुप्रतिष्ठ पत्रिका 'दृष्टिकोण' के मई, 1952 अंक में उन्होंने अपने जीवन के शुरुआती दौर का ब्यौरा दिया था। इसी तरह, जिस कहानी संग्रह 'गेंद और गोल' पर उन्हें सन् 1978 में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद का सम्मान मिला और उनके अस्वस्थ रहने के कारण सम्मान-राशि देने तत्कालीन मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर रांची आए थे, उस पुस्तक की भूमिका 'इतना ही कहना है' को भी प्रासंगिक दस्तावेज का दर्जा मिल सकता है।

कबीर की बोली-बानी में 'आंखिन देखी' की बड़ी महिमा बताई गई है। मैं भी अनुभवों के साक्ष्य की अनदेखी नहीं करता। उन दिनों कचहरी रोड पर पुस्तक भवन-अभिज्ञान प्रकाशन परिसर घर-बाहर के साहित्यकर्मियों के आने-जाने से हमेशा गुलजार रहा करता था। सन् 1965 से 1969 के बीच वहां मेरी लगभग रोजाना आवाजाही हुआ करती थी। अंतिम चार वर्षों के दरम्यान मुझे अभिज्ञान प्रकाशन की ओर से संपादन के कई कार्यों से जोड़ा गया था और बाद में मासिक पत्र 'अभिज्ञान' के संपादन की जिम्मेवारी भी दी गई। इस ब्यौरे की जरूरत यूं आ पड़ी कि इसी परिसर और माहौल में मैंने वहां लगभग रोज आनेवाले राधाकृष्ण को क्लोजअप में देखने का अवसर पाया।

अतीत घटनाओं का संदर्भ-कोश भर नहीं होता, वह अक्सर उर्वरक वर्कशॉप भी साबित होता है। इसीलिए तमाम दोस्तियां और दुश्मनियां एक वक्त के बाद अपनी मिठास और जहर दोनों से खाली हो जाती हैं। बच जाते हैं कुछ सार्थक अनुभव और कुछ कीमती यादें। इसी तरह एक सच यह भी है कि कलमकार या शिल्पकार अपने परिवेश की व्यवस्था से जितनी खरोंचें पाता है, उसका कुछ-न-कुछ अंश अपने आगे-पीछे चलने वालों को भी जाने-अनजाने बांट देता है। संस्मरण लेखन के लिए ऐसे प्रसंग रोचक और कच्ची सामग्री से भरपूर मान लिए जाते हैं, जबकि इतिहास लेखन के लिए वे रासायनिक खाद से भरपूर उर्वर पृष्ठभूमि साबित होते हैं।

मैं राधाकृष्ण के आर्थिक संघर्ष, उत्कट रचनाशीलता और जिजीविषा का कायल हूं। जीवन सागर में समुद्र मंथन से जो और जितना अमृत तत्त्व उन्हें मिला, उसे अपने साहित्य समाज को दिया और जो कुछ विष निकला, उसका अधिकांश खुद आत्मसात किया। उल्लेख्य है कि उनका बचपन बेहद गरीबी में बीता था। कच्ची उम्र में पिता की छतरी से वंचित हुए तो मिडिल स्कूल की शिक्षा भी दुर्लभ हो गई। तो भी अपनी लगन-मेहनत के बूते उन्होंने अंग्रेजी-हिंदी पर अधिकार पाया, अंग्रेजी के जरिए ही देश-दुनिया का साहित्य पढ़ा-गुना और आगे चलकर भाषांतर का कार्य भी साधा। शुरू के दिनों में रोटी-रोजगार की खातिर बस कंडक्टरी, कचहरी में मुंशीगीरी, चलंत फोटोग्राफी जैसे कई छोटे-मोटे कामों में खुद को खपाने की कोशिश की। आजीविका के इन विफल विकल्पों के बाद अंततः कलमजीवी के बतौर वे लंबे समय तक यायावरी करते रहे। लोहरदगा, काशी-बनारस, इलाहाबाद, कोलकाता, मुंबई, पटना जाते रहे, लेकिन रांची लौटते रहे।

रांची में उनको जितना मान-सम्मान मिला, उतना अपने शहर में कम लेखकों को नसीब होता है। सन् 1954 में उनका नागरिक अभिनंदन दर्जन भर संस्थाओं की साझेदारी में यहां हुआ था। उस आयोजन में जितने नामचीन लेखक यहां जुटे थे, इस कारण वह बेशक एक यादगार अवसर बन गया था। इसी तरह सन् 1972 में जमशेदपुर में आयोजित उनकी षष्ठीपूर्ति पर एक भव्य समारोह हुआ था। इससे पहले थोड़े समय के लिए वे आकाशवाणी के पटना और रांची केंद्रों में प्रोड्यूसर के पद पर काम कर चुके थे। यही वह दौर था जब अपने जीवन में पहली बार वे आर्थिक तौर पर तनिक स्थिर हो पाए।

पिछले दिनों झारखंड की राजधानी रांची में पुस्तक मेले का शोर था। कई प्रकाशन गृह अपने जनसंपर्क की कामयाबी पर खुश थे कि स्थानीय अखबारों में सिर्फ उनके प्रतिष्ठान से छपी किताबों की इश्तहारी चर्चा हो रही थी, जबकि यह उनके जनसंपर्क कौशल का नतीजा था। दूसरी तरफ बाकी लोगों की बेजा अनदेखी भी हो रही थी। वैसे यह अनदेखी कई दूसरे मुद्दों की भी कम नहीं हुई। पुस्तक मेला परिसर में एक मुक्ताकाश मंच नागार्जुन के नाम से जुड़ा था। मिथिलांचल से आए मेला आयोजक शायद नागार्जुन के महत्त्व से अधिक परिचित रहे होंगे। नतीजतन कोई चाहकर भी वहां राधाकृष्ण के नाम से जुड़ा तोरण द्वार तक नहीं खोज सकता था, जबकि यह वर्ष उनका

जन्मशती वर्ष भी था।

एक लेख में मैंने राधाकृष्णजी को एक बंद राजमहल के रूप में याद किया है। चूंकि रांची में उस समय की युवा पीढ़ी से उनका अपेक्षित तालमेल नहीं बन सका था। फरवरी, 1969 की 'सारिका' में शिवचंद्र शर्मा ने अपने बहुचर्चित लेख 'सही खोपड़ी की तलाश' में एक मौन समूह के बतौर उनकी ब्योरेवार चर्चा की थी, लेकिन अगर-मगर मार्का इन छोटी बातों को महत्त्व न दें और राधाकृष्ण को समग्रता में देखें तो बेशक वे अपनी पीढ़ी के समर्थ कथाकार थे। उनके साहित्य लेखन में विकास क्रम का कोई ग्राफ बनाया जाए तो यह निष्कर्ष सम्मुख होगा कि वे जीवनपर्यंत किसी एक सीध में नहीं चले, बल्कि एक अविराम बहती नदी की तरह पड़ाव बदलते हुए निरंतर गतिशील रहे। सच है कि राधाकृष्ण जी के निजत्व या कृतित्व दोनों में कई रंग थे और उनके तमाम रंग-रेशों को एक आलेख में समेटना मुमकिन नहीं है।

पिछली सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी संसार ने उपन्यासकार द्वारका प्रसाद, भाषाविद् और रामकथा मर्मज्ञ फादर कामिल बुल्के और आदिवासी जीवन के आदिकथाकार योगेंद्रनाथ सिन्हा जैसे जिन कुछेक लेखकों के जरिए झारखंड को जाना-पहचाना, उनमें राधाकृष्ण अन्यतम रहे थे। सच तो यह भी है कि राधाकृष्ण अपने जीवनकाल में ही हिंदी साहित्य के इतिहास में अपनी जगह कायम कर चुके थे और प्रेमचंद ने उन्हें अपने समय के पांच समर्थ लेखकों में गिना था। यह अवसर हिंदी रचनाशीलता के केंद्रीय प्रवाह में उनकी ऐतिहासिक उपस्थिति को नए सिरे से रेखांकित करने का नहीं है, चूंकि उनके बहुमुखी कृतित्व के विषय में मूल्यांकनपरक आलोचना के मुद्रित पन्ने पर्याप्त सुलभ हैं। इसके बावजूद राधाकृष्ण की अनदेखी इसलिए अधिक चुभती है कि हिंदी मीडिया के कई कोनों में इस साल एक तरफ कई लेखकों की शतवार्षिकी बड़े धूमधाम से मनाई जा रही है, जो एक मुनासिब कदम है, लेकिन दूसरी ओर राधाकृष्ण की याद हाशिए में भी जगह नहीं पा सकी।

यह दुखद है कि हिंदी कथा के विरासती विमर्श में इस समर्थ कथाकार के अवदान की नुमाइशी चर्चा भी कहीं दिख नहीं रही, जबकि उन्होंने समय के दबाव और बहाव के सहयात्री की तरह कथा और व्यंग्य की विधाओं में प्रभूत सामग्री दी है और उन सवालों और मसायलों को भी अपनी अंतर्वस्तु में शामिल किया है, जो समाज-संस्कृति के चिरकालिक यक्षप्रश्न हैं। जैसे 'रूपांतर' उपन्यास में पाप और पुण्य का द्वंद्व मिथकीय आवरण से बाहर आकर आज के समाज-संदर्भ में एक अविस्मरणीय कथा वितान है। ऐतिहासिकता और सामयिकता के ऐसे कथासंगम का जोड़ हिंदी में सिर्फ भगवती चरण वर्मा की 'चित्रलेखा' में ही अंकित हुआ है। इसी तरह कहानी के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहें तो 'रामलीला', 'वरदान का फेर' और 'चंद्रगुप्त की तलवार' जैसी कहानियों में वर्णित चुनौतियां सर्वकालिक हैं तो 'उजागर की रेलगाड़ी' और 'एक लाख सत्तानवे हजार आठ सौ अट्ठासी' या 'इंसान का जन्म' जैसी कहानियों में दिनांकित इतिहास दर्ज हुआ है। और 'टिली', 'मुड़कर भी न देखा', 'मूल्य' या 'कोयले की जिंदगी' जैसी कहानियां वही लिख सकता है, जो इस पठार की आदिवासी माटी में पला-खिला हो। निष्कर्षतः राधाकृष्ण के नाम-खाते यादगार कहानियों की फेहरिस्त खासी लंबी है। इसके बावजूद चिंताजनक सूचना यह है कि आज की तारीख में उनकी प्रकाशित कृतियां सिर्फ कुछेक पुस्तकालयों में ही सुलभ रह गई है, जबकि पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी रचनाओं की संख्या भी बड़ी है। अब ऐसी स्थिति में यह क्या बतलाया जाए कि उनके तीन अधूरे उपन्यास आंशिक तौर पर दैनिकों के परिशिष्टांकों में दफन हैं! समग्रता में देखा जाए तो उनके 'रचना समग्र' का प्रकाशन इस समय की मांग है, जब पिछली सदी के साहित्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन

का कार्य कई स्तरों पर चल रहा है।

हिंदी में साहित्य लेखन का हाल फिलहाल यह है कि मूल्यांकन की कोई कसौटी अगर साबुत बताई जा सकती है तो वह है दबंगों की गुटपरस्ती। कहीं-कहीं याराना और बिरादराना रिश्ता भी जिंदा है जरूर—खासतौर पर संगठनों की चारदीवारी के बीच या फिर एकेडमिक परिसर की मर्यादा के तहत। पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों में और साहित्यिक जमावड़ों-उत्सवधर्मी आयोजनों के अवसर पर कई दीगर नमूने और मिसालें भी इफरात में सुलभ हो जाती हैं। क्या आज की तारीख में और ऐसे माहौल में, राधाकृष्ण की जन्मशती को याद करना अर्थहीन हो चुके अतीत से संवाद करना भर है या मृत इतिहास का गौरवगान सरीखा है या विरासत की धरोहर को आंकने-तौलने की अर्ज भी है! आप भी कुछ सोचें, कुछ कहें तो अच्छा लगेगा।

प्रतिमान प्रकाशन, शिवशक्ति लेन, किशोर गंज, हरमू पथ, रांची-834001, मो. 9955161422

मैं ऐसे बाबा का चेला हुआ!

भारत यायावर

यह उन दिनों की बात है कि जब मैं हिंदी साहित्य की महान् गौरवशाली परंपरा को आत्मसात् करने के लिए निरंतर भटकता रहता था और हिंदी के निर्माताओं की बहुत सारी बिखरी रचनाओं को खोज-खोजकर पढ़ता रहता था। यह एक प्रकार की दीवानगी थी। मैंने रेणु की असंकलित रचनाओं को खोजकर लगातार कई पुस्तकें प्रकाशित की थीं और अपने-आपको 'खोजीराम' के नाम से प्रसिद्ध किया था। इस क्रम में जो पहली पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उसका नाम था—'वन-तुलसी की गंध'। 1984 ई. के मई महीने में यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी, जिसमें रेणु के लिखे स्केच एवं संस्मरण संकलित थे। इस पुस्तक को मैंने त्रिलोचन-शमशेर-नागार्जुन को समर्पित किया था और रेणु के स्केच 'अपने-अपने त्रिलोचन' के अंतिम अंश को भी उद्धृत किया था। वह अंश इस प्रकार है, 'त्रिलोचन (जी) को देखते ही हर बार मेरे मन के 'ब्लैकबोर्ड' पर, एक 'अ-गणितिक', असाहित्यिक तथा अवैज्ञानिक प्रश्न अपने-आप लिख जाता है : 'वह कौन-सी चीज है, जिसे त्रिलोचन में जोड़ देने पर वह शमशेर हो जाता है और घटा देने पर नागार्जुन...'।

जून, 1984 ई. में पटना गया और गुरुवर नंदकिशोर नवल को मैंने इस पुस्तक की प्रति भेंट की थी। उन्होंने इसका समर्पण देखकर एक हल्की मुस्कुराहट के साथ कहा था कि बाबा इसे देखकर नाराज होंगे। मैंने पूछा—क्यों? तो उन्होंने एक प्रसंग मजे लेकर सुनाया। जरा ठहरिए, वह प्रसंग मैं कुछ बाद में सुनाता हूं, पहले मेरा यह आत्म-संस्मरण सुन लें।

मैं नागार्जुन-शमशेर एवं त्रिलोचन से तब बहुत बार मिल चुका था और उनका अधिकांश साहित्य पढ़ चुका था। उनके ढेरों किस्से और संस्मरण दिमाग में जमे हुए थे। इन तीनों का चेला भी रह चुका था और इनके प्रति मेरी गहरी निष्ठा को जगाने में नवलजी का भी गहरा योग था। उन दिनों नवलजी कट्टर वामपंथी थे और मैं उनसे भी तीव्र वामपंथी के रूप में मिलता था, किंतु राजनीतिक बातें कुछ ही समय में हवा हो जाती थीं और कविता की सरस, सुवासिनी अजस्रधारा में उनके साथ मैं 'अमृत-स्नान' करने लग जाता था। तब मैं पुरानी पत्रिकाओं में प्रकाशित नवलजी के गीतों एवं कविताओं का आस्वाद ले चुका था और उन्हें कवि ही मानता था, किंतु नवलजी आलोचना के पथ पर बहुत आगे बढ़ आए थे और उनकी चार आलोचना की पुस्तकें निकल चुकी थीं—साहित्य अकादेमी से 'महावीर प्रसाद द्विवेदी', राजकमल प्रकाशन से 'हिंदी आलोचना का विकास', वाणी प्रकाशन से 'कविता की मुक्ति' एवं संभावना प्रकाशन से 'प्रेमचंद का सौंदर्य-शास्त्र'। तब 'आलोचना' पत्रिका का सह-संपादक होने के बावजूद मूलतः संपादन वही करते थे और उनकी लेखनी आग उगलती थी। वे तब 'धरातल' नामक एक लघु पत्रिका का भी संपादन करते थे और अरुण कमल के अलावा बिहार में किसी युवा कवि को तरजीह नहीं देते थे। उनकी आलोचना में ओज, तल्खी, बेबाकपन और खरापन था। वे आलोचना से परे सिर्फ मार्क्सवाद को मानते थे। उनकी आस्था मार्क्सवाद, प्रगतिशील लेखक संघ एवं भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में गहरी थी। तब इनके खिलाफ वे कुछ सुन नहीं सकते थे और मेरी आस्था सिर्फ और सिर्फ साहित्य के प्रति थी। तब मैं पढ़ता सब कुछ था, किंतु मन कविता की दुनिया में ही रमता था। तो, तब नवलजी से आत्मीयता स्थापित हुई, इसी कवि-हृदय होने के कारण। वे निराला की कविता के विद्यार्थी जीवन से ही मर्मज्ञ रहे हैं और साहित्य-सेवा ही उनका धर्म रहा है और इसी धरातल पर मैं उनका आत्मीय बना। वे रामविलास शर्मा, नागार्जुन, शमशेर, त्रिलोचन, नामवर सिंह के स्नेह-पात्र रह चुके थे और मैं भी। यह वह समय था जब इन लेखकों का महत्त्व समझा जाने लगा था और देखते-ही-देखते ये शीर्षस्थ साहित्यकारों की पंक्ति में स्थापित होने लगे थे। 1970 ई. में शिवचंद्र शर्मा ने 'स्थापना' नामक पत्रिका के तीन अंक त्रिलोचन पर निकाले थे, जिसमें रेणु का उक्त लेख था। जब वह लेख छपा था, तब रेणु के इस सवाल को बूझने की कोशिश बहुत लोगों ने की थी और नवलजी ने भी उसका एक खास अर्थ निकाला था। और जब मैंने उनसे पूछा था कि इस समर्पण से नागार्जुन क्यों नाराज हो जाएंगे तो उन्होंने रेणु के इस वक्तव्य का विवेचन मजेदार ढंग से किया था। उन्होंने बताया था कि संवेदनशील या मानवीयता ही वह चीज है, जिसे त्रिलोचन में जोड़ देने पर शमशेर हो जाता है और त्रिलोचन से घटा देने पर नागार्जुन। आगे नवलजी ने इसकी व्याख्या करते हुए बताया था कि मान लीजिए आप त्रिलोचन के साथ हैं और बीमार पड़ गए, तो वे तनिक भी विचलित नहीं होंगे और आपके लिए दवा ला देंगे, आपका कुशल-क्षेम लेते रहेंगे। यदि शमशेर के साथ हैं और बीमार पड़ गए तो वे बेचैन हो जाएंगे। रात-दिन आपकी सेवा करते रहेंगे। दौड़-दौड़कर आपकी दवा और पथ्य का इंतजाम

करेंगे। और, यदि नागार्जुन के साथ हैं और बीमार पड़ गए तो वे डांटने लगेंगे—कैसे आदमी हो तुम, बीमार पड़ जाते हो, स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं देते। वगैरह, वगैरह।

नवलजी की यह बात मेरे मन में बहुत गहरे पैठ चुकी थी और मैं नागार्जुन से डरने लगा था, लेकिन, नवलजी की यह व्याख्या बहुत शीघ्र ही मेरे मन से साफ हो गई। अक्टूबर, 1984 ई. में मैं जब सुबह-सुबह पटना पहुंचा तो खगेंद्र ठाकुर से भेंट हुई। उन्होंने बताया कि बाबा पटना में हैं और आपको खोज रहे हैं। मैं मन-ही-मन डरा कि वे मुझे डांटेंगे। खगेंद्रजी ने बताया कि बाबा ने कई लोगों से कह रखा है कि यायावर पटना में जहां भी दिखाई पड़े, मेरे पास उसे तुरंत भेजो। तब बाबा उषा किरण खान के बंगले पर ठहरे हुए थे। मैं तुरंत उनके पास पहुंचा और चरण-स्पर्श किया। वे मुझे देखते ही बहुत खुश हुए और बताया कि राजकमल प्रकाशन (पटना शाखा) से 'वन-तुलसी की गंध' पुस्तक की बीस प्रतियां अपनी रॉयल्टी के खाते से खरीदकर वे कई युवा लेखकों को भेंट कर चुके हैं। उन्होंने बताया कि इस पुस्तक के प्रकाशन पर वे जितने खुश हुए, उतना अपनी किताब के प्रकाशन पर भी नहीं हुए थे। उन्होंने अपने कुर्ते के अंदर हाथ घुसाकर एक बीस रुपये का नोट निकाला और (अपने बड़े पुत्र) शोभाकांत जी को दिया और कहा—शोभाकांत, यायावर को कुछ नाश्ता करवा कर ले आओ। फिर जमकर बातें होंगी। मैं शोभाकांत जी के साथ डाकबंगला चौराहा पर स्थित एक होटल में नाश्ता कर लौटा तो उनसे दो घंटों तक लगातार गपशप होती रही। और मित्रो, मैं सच कहूं, इतना स्नेह मुझे किसी भी बड़े साहित्यकार ने नहीं दिया था, जितना बाबा ने दिया और जीवन के अंतिम क्षणों तक देते रहे।

जब मैंने नवलजी को यह प्रकरण सुनाया तो वे बोले कि हिंदी साहित्य में इकलौते आदमी आप हैं, जिस पर बाबा ने खर्च किया। वरना, उन्होंने तो अब तक किसी को पान भी नहीं खिलाया है।

बाबा नागार्जुन ने एक बार मुझे मछली भी खिलाई थी, अनायास याद हो रहा है। मैं 1989 ई. के 18 अक्टूबर को दिल्ली पहुंचा और स्टेशन से सीधे राधाकृष्ण प्रकाशन अशोक महेश्वरी के पास। अशोक जी के सामने बाबा बैठे हुए थे। उसी दिन उनका नया कविता- संग्रह 'इस गुब्बारे की छाया में' छप कर आया था और पुस्तक की जिस प्रति को वे उलट कर देख रहे थे, उसे मुझे देते हुए लिखा—

प्रकाशित होने पर
यह पहली पोथी
भारत यायावर के
कुशल-कर्मठ-जादुई
हाथों में—प्यारपूर्वक'
नागार्जुन
18-10-89

मैं अशोक जी से बातें करने लगा तो अचानक बाबा अशोक पर बिगड़ गए—कैसे आदमी हो तुम? यायावर, इतनी लंबी यात्रा करके आ रहा है और तुम लगे गपशप करने। कुछ मंगवा कर खिलाना-पिलाना है नहीं। पहले इसे खिलाओ, तब बातें होंगी। अशोक जी ने एक स्टाफ भेजकर रोटी और सब्जी मंगवाई। मुझे याद है, शिमला मिर्च की वह सब्जी मैंने जिंदगी में पहली और अंतिम बार खाई थी। उसी समय बाबा ने कहा था कि तुम दिल्ली आते हो तो मेरे सादतपुर वाले मकान में ठहरा करो। अब मेरा दिल्ली में अपना मकान हो गया है, अब तुम्हें इधर-उधर कहीं ठहरने की जरूरत नहीं।...ऐसा करो, तुम परसों शाम को मेरे घर आओ, मैं प्रतीक्षा करूंगा। मैं 20 अक्टूबर की शाम को वीरेंद्र जैन के साथ सादतपुर पहुंचा, तो बाबा मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने अपने बेटे से मछली मंगवाकर, स्वयं निर्देश देकर बनवाया था और खुद तो एक टुकड़ा खाया था और मुझे बड़े स्नेह से भरपूर खिलाया था। फिर अपने जीवन का लंबा वृतांत बताते रहे थे। बाबा की नागार्जुन नाम से पहली कविता 'बुदबुद' 'जनता' पत्र के 19 अप्रैल, 1939 के अंक में छपी।

बाबा देशभर में घूमते रहते। पैसे कमाते, घर भेजते। कभी इस लेखक के यहां, कभी उस लेखक के यहां। जब पटना में उन्हें लंबे समय तक रहना होता तो डेरा ले लेते और कोई औपन्यासिक रचना करते। वे लगातार घूमते रहे। कभी रुके नहीं, कभी झुके नहीं। कभी बंधे नहीं, कभी थके नहीं, कभी चुके नहीं। न कभी दृष्टि के बंदी रहे, न पथ के, जब जो रुचा, किया, जिधर मन किया, चल दिया। मनमौजी, मस्त, अक्खड़, फक्कड़, घुमंतू बाबा। रमता जोगी, बहता पानी। उनका एक कविता-संग्रह छपा—'हजार-हजार बांहों वाली'। उस समय दिल्ली में थे। एक प्रति लेकर रामविलास शर्मा को दे आए। फिर तीन महीने बाद दोनों दोस्तों की भेंट हुई। रामविलास जी ने पूछा, इस बीच कहां-कहां घूम आए। और बाबा ने उन्हें इतने शहरों के नाम बताए कि तुरंत रामविलास जी ने कहा कि आपके संग्रह का नाम 'हजार-हजार पैरों वाला' होना चाहिए।

सो मित्रो, बाबा के विषय में रेणु ने जो जोड़-घटाव किया था और उसका जो अर्थ नवलजी ने बताया था, उसके विषय में मैं तो कुछ भी नहीं कह सकता, पर इतना जरूर कह सकता हूं कि वे कितने भी बड़े नागा हों, औघड़ हों, व्यंग्य के बेधक बाण चलाने वाले अर्जुन हों, दीन-हीन साधारण जनों के वे अपने थे, अपने बाबा, अपने नागा बाबा—'युग-युग धावित यात्री'! मुझे अभिमान है, मैं ऐसे बाबा का चेला हुआ!

यशवंत नगर, मार्खम कॉलेज के निकट,
हजारीबाग-825 301 (झारखंड)
e-mail : bharatyayawar@yahoo.com,
मो. 9835312665

टिप्पणी

प्रेमचंद पर नई खोज को देखो, पहचानो और तब बोलो

कमल किशोर गोयनका

'पुस्तक वार्ता' के जनवरी-फरवरी, 2011 में अंक में भारत यायावर का लेख 'प्रेमचंद पर नई खोज' प्रकाशित हुआ है, तो मुझे आश्चर्य हुआ कि इस लेख की क्या आवश्यकता थी और यदि लेख लिखना ही था तो पाठकों को तथ्यों की सही जानकारी देनी चाहिए थी। भारत यायावर का लेख 'पुस्तक वार्ता' में छपा है तो इसका यह अर्थ लिया जा सकता है कि वे 'पुस्तक वार्ता' के नियमित पाठक हैं और वे बराबर इस पत्रिका को देख रहे हैं। यह अत्यंत खेदजनक है कि यदि वे इस पत्रिका के गंभीर तथा नियमित पाठक हैं तो 'पुस्तक वार्ता' का सितंबर-अक्टूबर, 2010 का अंक उन्होंने देखा ही होगा और उसमें प्रकाशित मेरा लेख 'प्रेमचंद का तथाकथित पहला उपन्यास 'दुर्गादास : विलुप्त एवं अनुपलब्ध दावों की परीक्षा' यदि यायावर ने मेरे इस लेख को नहीं देखा है तो यह आश्चर्यजनक है और यदि इसे पढ़कर उन्होंने यह लेख लिखा तो और भी आश्चर्यजनक है, क्योंकि मैंने अपने लेख में भवदेव पांडेय के 'दुर्गादास' को प्रेमचंद का प्रथम उपन्यास बताने तथा उसके संबंध में दिए गए तथ्यों का सप्रमाण खंडन किया था। असल में, मेरे इस लेख के बाद भवदेव पांडेय के दावों को खंडित करने वाले किसी अन्य लेख की आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि मेरे लेख में भवदेव पांडेय के सभी दावों का खंडन किया गया था। अपने लेख के प्रकाशन के बाद मैं इसी प्रतीक्षा में था कि भवदेव पांडेय मेरे लेख का उत्तर देंगे, परंतु उनकी ओर से कोई स्पष्टीकरण नहीं आया और वे मौन हो गए। इसका अर्थ है कि उन्होंने अपने दावों की निरर्थकता और असत्यता स्वीकार कर ली।

भारत यायावर ने मेरा लेख पढ़े बिना लेख लिखा, तब भी मैं उनके प्रति इसलिए आभारी हूं कि उनका ध्यान प्रेमचंद तथा उनकी कृतियों पर किए गए झूठे दावों की ओर गया, परंतु उन्हें इसका ध्यान तो रखना ही चाहिए था कि वे स्वयं वे गलतियां न करें, जिनके लिए वे भवदेव पांडेय की आलोचना कर रहे हैं और मेरे कार्य पर भी कुछ छींटे डाल रहे हैं। भारत यायावर के इस लेख में जो गलतियां हैं तथा अज्ञानता से भरी जो टिप्पणियां हैं, उनकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। यदि वे चाहें तो वे अपनी गलतियों को सुधार सकते हैं—

1. भारत यायावर का लिखने का अभिप्राय है कि अमृतराय ने 'मानसरोवर' के आठ खंड को संकलित-संपादित किया था। उन्हें यह जानकारी कहां से मिली? क्या उन्होंने 'मानसरोवर' (आठ खंड) के प्रथम संस्करण देखे हैं, क्योंकि उन्हें देखे बिना जो भी जानकारी दी जाएगी, वह प्रामाणिक नहीं होगी। भारत यायावर की जानकारी के लिए बता दूं कि 'मानसरोवर' के पहले और दूसरे खंड का प्रकाशन-संपादन स्वयं प्रेमचंद ने किया था और इसके बाद उनका देहांत हो गया। इन दो खंडों का प्रकाशन मार्च, 1936 में हुआ और इसके दो प्रकाशक थे—सरस्वती प्रेस, बनारस कैंट तथा हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई। इन दोनों संकलनों में कुल 53 कहानियां हैं। 'मानसरोवर' के शेष छः खंडों का संकलन प्रेमचंद के बड़े बेटे श्रीपतराय ने किया था और उनका प्रकाशन सन् 1938, 1939, 1946 (पांचवां एवं छठा खंड), 1947 तथा 1950 में हुआ था। अमृतराय ने जब हंस प्रकाशन खोला तो इन्हीं आठों खंडों का एक प्रकार से अपने प्रकाशन से पुनर्मुद्रण किया।

2. भारत यायावर ने प्रेमचंद के तीसरे तथा चौथे उपन्यास की जानकारी गलत दी है। मालूम नहीं, उन्हें कहां से जानकारी मिली कि प्रेमचंद का तीसरा उपन्यास 'जलवा-ए-ईसार' था और चौथा 'किशना', जो सन् 1913 में छपा था। वास्तविकता यह है

कि 'किशना' उनका तीसरा उपन्यास था और वह मेडिकल हॉल प्रेस, बनारस से दिसंबर, 1906 में छपा था। इसकी एक प्रति इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी लंदन में थी, किंतु अब वहां यह अनुपलब्ध है। 'जलवा-ए-ईसार' उर्दू उपन्यास था, जो इंडियन प्रेस, इलाहाबाद ने सन् 1912 में प्रकाशित किया। उर्दू की मासिक पत्रिका 'ज़माना' के मई-जून, 1912 के अंक में इसके प्रकाशित होने का समाचार छपा है। इसका हिंदी रूप 'वरदान' ग्रंथ भंडार, बंबई से संवत् 1977 अर्थात् 1920 में प्रकाशित हुआ। भारत यायावर ने यदि 'प्रेमचंद विश्वकोश' खंड-2 देख लिया होता तो वे ये गलती नहीं करते।

3. भारत यायावर ने अपने लेख में मुझे, शैलेश जैदी तथा धर्मवीर को लपेटा है, जैसे हम तीनों ने प्रेमचंद को लेकर एक-सा काम किया है। मुझे उनके इस मूल्यांकन पर सख्त ऐतराज है। उन्होंने मेरे बारे में लिखा है, 'कमल किशोर गोयनका ने प्रेमचंद के विषय में स्थापित कई मान्यताओं को तोड़ने की कोशिश की, जिनमें प्रमुख हैं—प्रेमचंद समाजवादी-विचारधारा के नहीं थे, वे गरीब नहीं थे, इसलिए अंगूर खाते थे।' सबसे पहले वे बताएं कि स्थापित मान्यताओं को तोड़ना कहां अपराध है? शोध का आधार यही है कि ज्ञान-विज्ञान में जो मान्यताएं प्रचलित हैं, उनके सत्यासत्य की परीक्षा की जाए और जो मान्यताएं नए तथ्यों तथा नए अन्वेषण की दृष्टि से तर्कहीन हैं, जिनकी बुनियाद ही झूठी और भ्रामक है, उन्हें खंडित किया जाए और उनके संबंध में नई मान्यताएं स्थापित की जाएं। भारत यायावर, मैं समझता हूं, नए ज्ञान के शत्रु नहीं हैं, तब प्रश्न यह है कि वे क्यों मेरी नई खोजों का स्वागत नहीं करते? यदि मैंने यह सिद्ध किया है कि प्रेमचंद को मार्क्सवाद और समाजवाद का लेखक कहना तर्कसंगत नहीं है तो उन्हें मेरे तर्कों की परीक्षा करनी चाहिए थी। बिना गहरे उतरे तथा एक चलताऊ छींटाकशी करना एक विद्वान लेखक के लिए कहां तक उचित है? प्रेमचंद ने सन् 1928 में साम्यवाद को पूंजीवाद से अधिक भयानक कहा था तथा कम्युनिस्ट रूस के बारे में सन् 1932-34 में लिखा था कि रूस भी विचार का साम्राज्य चाहता है और जब भी कम्युनिस्ट शासन जनता की आकांक्षाओं से दूर होगा तो जनता उसे बदल देगी। 'गोदान' तक में रूस की शासन-व्यवस्था की कटु आलोचना है। भारत यायावर क्या इसे देखेंगे? वे इसे नहीं देखेंगे और हिंदुस्तानी प्रगतिशीलों की तरह गलत तथा तर्कहीन धारणाओं को अपनी छाती से लगाकर रखेंगे।

भारत यायावर का मुझ पर दूसरा आरोप है कि मैंने प्रेमचंद की गरीबी का खंडन किया है, क्योंकि वे अंगूर खाते थे। मुझे भारत यायावर जैसे प्रतिष्ठित लेखक से ऐसे बचकाने तर्क की आशा नहीं थी। उन्हें सबसे पहले इसकी खोज करनी चाहिए थी कि जिन आलोचकों ने उनकी गरीबी की घोषणा की, उसका आधार क्या था? इन आलोचकों ने तथा भारत यायावर ने ही प्रेमचंद के आर्थिक जीवन की खोज नहीं की तथा यहां तक कि अमृतराय ने भी 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' जीवनी में उन तथ्यों तक का उल्लेख नहीं किया, जो उनके पास थे। क्या भारत यायावर प्रेमचंद की सर्विस-बुक, बैंक की पास बुकें, बीमा पॉलिसियां, प्रेस और पुस्तकों के स्टॉक को देखना चाहेंगे, जो पहली बार 'प्रेमचंद विश्वकोश' (खंड-एक, प्रकाशन-वर्ष 1981) में दिए गए हैं। इनमें से अधिकांश तथ्य मुझे अमृतराय से तथा 'हंस' पत्रिका से मिले। यायावर चाहें तो 'प्रेमचंद विश्वकोश' देखें और उसमें दिए तथ्यों को चुनौती देने का साहस करें। वे चुनौती नहीं देंगे, दे ही नहीं सकते, लेकिन तथ्यों पर गौर किए बिना ही प्रगतिशीलों की तरह चरित्र-हनन करेंगे। इसी कारण वे लिखते हैं कि मैंने प्रेमचंद को गरीब नहीं माना, इसलिए वे अंगूर खाते थे। यायावर जी, बताएं, मैंने यह कहां लिखा है कि प्रेमचंद अंगूर खाते थे, क्योंकि वे गरीब नहीं थे। आप अपने मन की भड़ास को मेरे ऊपर क्यों डालते हैं? अगर आप मेरे शोध से सहमत नहीं हैं, मेरे निष्कर्षों से आप आहत हैं तो सर्वथा झूठे तथ्यों को मेरे ऊपर क्यों थोपते हैं? आप बताएं, मैंने यह कहां लिखा है? यदि आप प्रमाण दे सकें तो मैं आपसे तथा हिंदी संसार से क्षमा मांगूंगा अन्यथा यह काम आपको करना होगा। एक लेखक ऐसी कल्पना की उड़ान भरे तो चल सकता है अन्यथा आलोचक को तो तथ्यों और प्रमाणों के साथ ही चलना होता है। कृपया मेरे कार्य की तुलना शैलेश जैदी तथा धर्मवीर के कार्यों से न करें। यदि आपने प्रेमचंद पर मेरी बाइस पुस्तकें पढ़ीं होतीं तो ऐसी भूल नहीं करते।

यायावर जी, आपने प्रेमचंद की उर्दू हिंदी रचनाओं के संबंध में भी गलत सूचना देकर पाठक को भ्रमित किया है। प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी 'सौत' नहीं थी, जैसा कि आपने लिखा है। आपने संभवतः 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' तथा एक-दो अन्य पुस्तकें देखी होंगी और वहीं से आपने इस तथ्य को लेकर लिख दिया, किंतु प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी 'परीक्षा' थी, जो 'प्रताप' के विजयदशमी अंक में सन् 1914 में छपी थी जिसे प्रेमचंद ने अपने पहले कहानी-संग्रह 'सप्त-सरोज' (जून, 1917) में संकलित की थी। मैंने इस तथ्य को अपने कई लेखों तथा पुस्तक 'प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियां' (2005) में उल्लिखित किया है। अतः भारत यायावर के लिए अपना लेख लिखने से पहले क्या यह जरूरी नहीं था कि वे नए तथ्य जानें और फिर कोई दावा करें। एक और चौंकाने वाली बात यायावर ने लिखी है कि प्रेमचंद प्रायः रचनाएं उर्दू में लिखते थे, बाद में उनका हिंदी रूपांतर होता था। मालूम नहीं, उन्होंने कहां से यह तथ्य लिया और लिया भी तो इसकी प्रामाणिकता की परीक्षा क्यों नहीं की? इस वाक्य का यही तो अर्थ है कि उनके कुल साहित्य का अधिकांश मूलतः उर्दू में लिखा गया और बाद में उसका हिंदी रूपांतर हुआ, अर्थात् वे कहना चाहते हैं कि प्रेमचंद उर्दू के लेखक थे, हिंदी में तो वे रूपांतरित रूप में आए; लेकिन देखिए कि वे आगे क्या लिखते हैं, 'चूंकि उन्होंने अपनी बाद की कृतियों को उर्दू के साथ-साथ हिंदी में भी प्रकाशित किया और 'माधुरी', 'हंस' तथा 'जागरण' का संपादन कर उसमें मूल रूप से हिंदी में ही लिखा।' इसमें यायावर बताएं कि इस वाक्य के 'बाद की कृतियों' से उनका क्या अभिप्राय है? उन्हें मालूम है कि प्रेमचंद का लेखन-काल क्या था और यह 'बाद में' कब आता है? प्रेमचंद का लेखन-काल लगभग 33 वर्ष का था और उनका पहला हिंदी उपन्यास 'प्रेमा' सन् 1907 में छपा था, पहली हिंदी कहानी 1914 में तथा पहला हिंदी उपन्यास 'कायाकल्प' था,

जो मूलतः हिंदी में लिखा गया था। अपनी पहली हिंदी कहानी 'परीक्षा' (1914) के बाद उन्होंने काफी कहानियां उर्दू में लिखीं, किंतु अधिक संख्या हिंदी में लिखी कहानियों की ही है। यायावर को नहीं मालूम होगा, उनकी बहुत-सी हिंदी कहानियां उर्दू में नहीं आईं और कुछ उर्दू कहानियां भी हिंदी में आने से वंचित रह गईं। यदि विद्वान लेखक भारत यायावर की रुचि हो तो वे मेरे संपादन में साहित्य अकादमी, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'प्रेमचंद : कहानी रचनावली' (खण्ड-6) देखें तो उन्हें अपनी गलत धारणाओं को ठीक करने का सुअवसर मिलेगा।

भारत यायावर ने, अंत में एक और विचित्र बात लिखी है, 'प्रेमचंद की कृतियों को सही संदर्भों में देखने का कार्य रामविलास शर्मा, विजयेंद्र स्नातक, नामवर सिंह, वीरभारत तलवार आदि आलोचकों ने किया है।' मालूम नहीं, यायावर इस ज्ञान-सूत्र को किस कोयले की खान से निकाल लाए। वे ज्ञानी हैं, तो कोहिनूर ही निकालकर लाए होंगे। प्रेमचंद के आलोचना-संसार में इससे बड़ा झूठ क्या हो सकता है? क्या उन्होंने प्रेमचंद पर प्रकाशित लगभग सौ पुस्तकें, इतने ही पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक, तीन सौ के लगभग शोध-प्रबंध तथा विदेशी आलोचकों की प्रेमचंद पर पुस्तक देखी हैं? उन्होंने जो कुछ देखा है, बस यही है। यायावर ने अपने लेख में मेरा उल्लेख किया है। क्या उन्होंने प्रेमचंद पर लिखी मेरी बाइस पुस्तकें देखी हैं? क्या वे मदन गोपाल को जानते हैं, जिन्होंने 'कलम का मज़दूर' लिखा तथा उर्दू में 'प्रेमचंद कुलियात' (24 खंड) का संपादन किया। मैं यहां अनेक नाम दे सकता हूं, जिन्होंने प्रेमचंद की आलोचना और साहित्य पर कार्य किया है। उन्हें मालूम है या नहीं कि मन्मथनाथ गुप्त, नंददुलारे वाजपेयी, इंद्रनाथ मदान, गोपालराय, शिवकुमार मिश्र आदि ने भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने डॉ. रामविलास शर्मा का उल्लेख किया है। उनकी दो पुस्तकें हैं—'प्रेमचंद' (1941) और 'प्रेमचंद और उनका युग'। क्या यायावर ने इन्हें पढ़ा है? 'प्रेमचंद' (1941) में रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद द्वारा 'प्रगतिशील' शब्द के प्रयोग को अनुचित बताया और उनकी भारतीयता का समर्थन किया। रामविलास शर्मा ने स्वयं लिखा कि कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं की अनुमति लेकर उन्होंने प्रेमचंद की मार्क्सवादी व्याख्या की और इन्हीं रामविलास शर्मा ने 'प्रेमचंद और उनका युग' में मेरी प्रेमचंद की पुस्तकों की लगभग सौ पृष्ठों में समीक्षा की। उनके अनेक निष्कर्ष तथ्यों पर नहीं, मार्क्सवादी पार्टी के सिद्धांतों के आधार पर किए गए हैं तथा महात्मा गांधी तक की उपेक्षा है। वे विजयेंद्र स्नातक का उल्लेख करते हैं। क्या उनकी कोई पुस्तक प्रेमचंद पर देखी है? स्नातक मेरे गुरु थे, उनकी कोई पुस्तक प्रेमचंद पर नहीं है। उनके दो-तीन लेख हैं और इतने ही लेख उन्होंने मेरे प्रेमचंद के कार्य पर लिखे हैं। नामवर सिंह की एक पुस्तक प्रेमचंद पर अभी आई है, किंतु वे उनके भाषणों का संकलन है, उनकी स्वतंत्र पुस्तक नहीं है। और वैसे भी, नामवर सिंह अपने वक्तव्यों तथा धारणाओं को बदलने के लिए विख्यात हैं। वे कब क्या कह देंगे, कोई नहीं कह सकता। वीरभारत तलवार जब प्रेमचंद पर शोध कर रहे थे, तब नामवर सिंह ने उन्हें मुझसे मिलने भेजा था। वे मेरे निवास पर आए थे। उनका प्रेमचंद पर क्या छपा है पुस्तक रूप में, वह मैंने देखा नहीं है, अतः विस्तार से कुछ कहना उचित नहीं है।

इस स्पष्टीकरण से यह स्पष्ट है कि भारत यायावर के पास कितना अधूरा, असत्य तथा अप्रामाणिक ज्ञान है। एक कल्पनाशील लेखक का आलोचना और शोध के क्षेत्र में आने का ऐसा ही दुष्परिणाम होता है। कहानी-कविता में आप कुछ भी कल्पित कर सकते हैं, किंतु आलोचना-शोध में तथ्यों और प्रमाणों को खोजना-परखना पड़ता है और सैंकड़ों-हज़ारों घंटों तक लाइब्रेरियों की धूल खानी पड़ती है। यह बच्चों और नासमझ लेखकों का खेल नहीं है। प्रेमचंद-आलोचना प्रगतिशील आलोचना से बहुत आगे बढ़ गई है। भारत यायावर उसे देखने-पढ़ने और परखने की आदत डालें, तब इस मैदान में उतरें। मैं अपने बारे में कभी नहीं लिखता, किंतु उनके अज्ञान को दूर करने के लिए लिखता हूं कि मेरा 'प्रेमचंद : विश्वकोश' (दो खंड) सन् 1981 में छपा था। पहला खंड प्रेमचंद की कालक्रमानुसार शोधपरक जीवनी है, जो हिंदी में पहली बार लिखी गई है और जिसमें अमृतराय की लिखी जीवनी की तुलना में अनेक नए तथ्य हैं। सन् 1988 में भारतीय ज्ञानपीठ ने 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' (दो खंड) प्रकाशित किया और लगभग 1400 पृष्ठों का गुमशुदा साहित्य प्रकाश में आया। इतने विपुल साहित्य की खोज क्या भारत में आज तक हुई है? राजेंद्र यादव तक ने 'हंस', अगस्त, 1989 में लिखा, 'गोयनका ने सचमुच बड़ी मेहनत और परेशानियां उठाकर उनकी रचनाओं को खोजा और सुलभ कराया है। हजारों पृष्ठों की अब तक अनुपलब्ध सामग्री को सामने लाने में निश्चय ही उन्हें ऐसी भी चीज़ें मिली हैं, जो प्रेमचंद की स्थापित तस्वीर का समर्थन नहीं करतीं। सचमुच मेरी समझ में नहीं आता कि अगर गोयनका अपने शोध में कुछ ऐसी बातें सामने ला रहे हैं, जो मूर्ति-भंजक, अंध-श्रद्धालुओं के गले नहीं उतरता तो बुरा क्या है? जितने परिश्रम, निष्ठा, लगन और साधना के साथ विदेशों में साहित्यकारों पर शोध होता है, यह तो हमारे लिए अकल्पनीय है, मगर हिंदी साहित्य या विशेष रूप से प्रेमचंद-साहित्य के शोधार्थियों को उसी तरह के शोध की एक झलक देने के लिए हमें गोयनका का कृतज्ञ होना चाहिए।' इधर साहित्य अकादमी, नई दिल्ली ने 'प्रेमचंद : कहानी रचनावली' (6 खंड) प्रकाशित किए हैं, जिसका संपादन मैंने किया है। इसमें प्रेमचंद की 298 ज्ञात-अज्ञात कहानियां हैं और उन्हें पहली बार कालक्रम दिया गया है और उनके कहानीकार पर अनेक नई स्थापनाएं हैं।

मैं यहां प्रेमचंद पर अपने अन्य कार्यों की चर्चा नहीं करूंगा। भारत यायावर को एक झांकी देना उपयुक्त होगा। उन जैसे देश में अनेक प्रगतिशील हैं, जो सत्य को देखना-समझना ही नहीं चाहते, तब उनसे क्या बहस हो सकती है? वे अपनी कूप-मंडूक दुनिया में घूम रहे हैं, तब उनका क्या हश्र होगा, समझा जा सकता है। आप अपने विचारों की तरह दूसरों के विचारों को भी महत्त्व दें, तभी दुनिया का, ज्ञान का तथा विचार के विकास का रास्ता खुलता है। भारत यायावर क्या इस रास्ते को खोलना नहीं चाहेंगे?

ए/98, अशोक विहार, फेज़ प्रथम, दिल्ली-110052, मो. 9811052469

‘जनवाणी’ : चौथाई सदी पहले का प्रसारण उत्सव और प्रसारण-त्रासदी

कुबेर दत्त

12 मार्च, 2011, कमानी सभागार, नई दिल्ली। पूरा हॉल खचाखच भरा था। प्रेस और टी.वी. चैनलों की बड़ी जमात। श्रोताओं में प्रबुद्ध पत्रकार- प्रसारक-कलाकार-लेखक-संस्कृतिकर्मी और भारी संख्या में संचार माध्यमों में कार्यरत लोग तथा पत्रकारिता व इलेक्ट्रॉनिक जन-संचार शिक्षण-संस्थाओं के छात्र-छात्राएं उपस्थित थे। मंच पर विशिष्ट आमंत्रित हस्तियों के बैठने की व्यवस्था...। मंच परिपार्श्व में लगा था एक विशेष बैनर—‘‘ ‘जनवाणी’ से जनता की वाणी तक’’। मंच पर आसीन थे—प्रभु चावला, संपादकीय निदेशक ‘द न्यू इंडियन एक्सप्रेस’, वरिष्ठ पत्रकार अच्युतानंद मिश्र, राहुल देव, ग्रुप एडीटर ‘आज समाज’, सतीश जैकब, एडीटर-इन-चीफ पी-7 न्यूज चैनल, मधुकर लेले, पूर्व डीडीजी, दूरदर्शन एवं लेखक, शरद दत्त, पूर्व निदेशक दिल्ली दूरदर्शन केंद्र एवं वरिष्ठ-प्रसारक-लेखक कुबेर दत्त, पूर्व चीफ प्रोड्यूसर दूरदर्शन एवं वरिष्ठ कला-साहित्य कार्यक्रमों के प्रोड्यूसर, अजय उपाध्याय, ग्रुप एडीटर ‘अमर उजाला’, कुरबान अली, मैनेजिंग एडीटर ‘इंडिया न्यूज’, पुण्य प्रसून वाजपेयी, सलाहकार, न्यूज एंकर ‘जी न्यूज’, संजीव श्रीवास्तव, पूर्व संपादक ‘बीबीसी इंडिया अफेयर्स’, राजकुमार सिंह, रेजीडेंट एडीटर ‘दैनिक ट्रिब्यून’, एन. के. सिंह, जनरल सेक्रेटरी, बीईए, उर्मिलेश, एक्जीक्यूटिव एडीटर ‘राज्यसभा टेलीविजन’, मुकेश कुमार, चैनल हेड ‘एक्सप्रेस न्यूज’, संजय अहीरवाल, सीनियर एक्जीक्यूटिव एडीटर ‘एनडीटीवी’, ज़फर आगा, वरिष्ठ पत्रकार, वर्तिका नंदा, कवि, लेखक, मीडिया क्रिटिक और प्रो. अरिंदम चौधरी, ग्रुप एडीटर ‘दि संडे इंडियन’।

शुरू में प्रोफेसर अरिंदम चौधरी ने, ठीक 25 वर्ष पहले शुरू हुए दूरदर्शन के अत्यंत लोकप्रिय कार्यक्रम की व्याप्ति के बारे में जानकारी दी और बताया कि इसी के साथ दूरदर्शन पर एक कतई नए किस्म के खुलेपन और पारदर्शिता की शुरुआत हुई। ‘जनवाणी’ ने दूर तक मीडिया की शक्ति का मार्ग प्रशस्त किया और जनता की भागीदारी के नए कीर्तिमान स्थापित किए। ‘जनवाणी’ के ही साथ दूरदर्शन पर ‘सच की परछाईं’ और ‘न्यूज़ लाइन’ कार्यक्रम भी शुरू हुए। ‘पर्सपेक्टिव’ तो था ही। प्रो. चौधरी ने याद दिलाया कि किस तरह बाद में ‘जनवाणी’ का पतन हुआ और किस तरह फिर भी ‘जनवाणी’ की आग अंदर ही अंदर धधकती रही और बाद में जब निजी चैनल खुले तो वही आग फिर जिंदा हो गई और वर्तमान में हम देख सकते हैं कि कई न्यूज चैनलों पर ‘जनवाणी’ की तर्ज पर कार्यक्रम चल रहे हैं। इस तरह ‘जनवाणी’ की आत्मा मरी नहीं, मगर वे इस साहसपूर्ण अभियान के संवाहक ‘जनवाणी’ कार्यक्रम के प्रोड्यूसर कुबेर दत्त को नहीं भूले और बताया कि किस तरह प्रोड्यूसर को क्या-क्या नहीं झेलना पड़ा। अपने उद्‌बोधन के बाद उन्होंने ‘जनवाणी’ के प्रोड्यूसर से आग्रह किया कि वे अपने अनुभव सांझा करे।

मेरे लिए यह अभूतपूर्व अवसर था। डायस पर पहुंचा ही था कि देखा समूचे हॉल में तालियों की गड़गड़ाहट है। अनेक श्रोताओं ने तो खड़े होकर तालियां बजाईं। यकीकन मैं कृतज्ञ महसूस कर रहा था। इतने वर्षों के बाद भी किए गए काम की ऐसी व्याप्ति। इतना सम्मान!! आंखें भर आईं। फिर मैंने ‘जनवाणी’ की पूर्वपीठिका और अपने अनुभवों की तीव्रता तथा कष्टों के बारे में बताया।

जब मुझे बताया गया कि मैं उस प्रस्तावित कार्यक्रम का प्रोड्यूसर नामित किया गया तो मुझे खुशी हुई और आशंकाएं हुईं। कार्यक्रम तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी की पहल पर शुरू हो रहा था और राजीव गांधी को बीबीसी के एक इसी तरह के प्रोग्राम को देखकर ऐसी प्रेरणा मिली थी। मुझे बताया गया कि विभिन्न मंत्रालयों के मंत्रीगण एक-एक आएंगे और जनता के प्रतिनिधियों के प्रश्नों का उत्तर देंगे। बीच में न कोई अफसर, न कोई चिट-पर्ची। सवाल भी मंत्रियों को पहले से नहीं बताए जाएंगे। मंत्रियों के क्रम का शेड्यूल सूचना एवं प्रसारण मंत्री को बनाना था।

बहरहाल, एक अधिकृत मीटिंग में मुझे जो ब्रीफ किया गया, वह संक्षेप में इस प्रकार है—

1. मंत्रीजी को जनता के सवाल पहले नहीं बताए जाएंगे। चर्चा एकदम पारदर्शी

होगी।

2. मंत्रालय को केवल उसके कार्यक्षेत्र की सूचीभर भेजी जाएगी।

3. रिकॉर्डिंग के दौरान मंत्री की सहायता के लिए मंत्रालय का कोई अधिकारी मौजूद न होगा, ताकि वह मंत्री को कोई स्लिप वगैरह न दे सके।

4. एडीटिंग में भी मंत्री का कोई सहायक या मंत्रालय के अधिकारी मौजूद न होंगे। मंत्री के जवाब यथावत् रखे जाएंगे। केवल खांसी-खंखार वगैरह निकाल दिए जाएंगे।

5. प्रधानमंत्री कार्यालय जब-तब दिशा-निर्देश के लिए प्रोड्यूसर को बुलाएगा। प्रधानमंत्री कार्यालय में नियुक्त तत्कालीन आई.ए.एस. अधिकारी अरविंद पांडे, प्रोड्यूसर के साथ वार्ता करेंगे।

6. संबंधित मंत्री के कार्यक्रम के बारे में दूरदर्शन अग्रिम पब्लिसिटी करेगा और देशभर के दर्शकों को अपने प्रश्न भेजने का आग्रह करेगा।

अग्रिम प्रचार के नतीजे विस्मयकारी थे। हजारों-हजार पत्र आने शुरू हो गए, जिन्हें पढ़ने-गुनने-नोट्स बनाने के लिए 15-20 लोगों की टीम बनानी पड़ी। अत्यंत साधारण पत्रों को निरस्त करते हुए पहले 1000, फिर 500, फिर 250, फिर 100 और अंत में 50 अत्यंत संजीदा पत्रों को फाइनल किया जाता था। उनमें से भी 15 व्यक्तियों को दिल्ली आमंत्रित किया जाता था। उन्हें फीस, यात्रा-व्यय, डी.ए. आदि दिए जाते थे।

कार्यक्रम-प्रसारण के बाद सारे पत्रों को लिफाफों में भर कर संबंधित मंत्रालय को भेज दिया जाता था।

बहरहाल... पहला ही कार्यक्रम हिट हुआ। 'जनवाणी' जनता की उन्मुक्त वाणी का स्वायत्त मंच बनता चला गया। अक्षम मंत्रियों को एक्सपोज होना पड़ा। कुछेक सक्षम मंत्री अपने बचाव में सफल रहे, लेकिन अनेक बार सरकारी तंत्र के बाबू-राज की पोल खुलती गई। कार्यक्रम को बीबीसी और 'टाइम' पत्रिका ने प्रमुखता दी। हिंदी-अंग्रेजी और भाषाई अखबारों ने कार्यक्रम की सराहना की। 'जनवाणी' और इसके प्रोड्यूसर को अंतरराष्ट्रीय पहचान मिली।

मगर, एक तरफ 'जनवाणी' की टीम की कर्मठता थी, ईमानदारी और पत्रकारिता के उच्च आदर्शों को पोसने का उद्यम था, दूसरी ओर एक उत्साही, पारदर्शी, युवा प्रधानमंत्री की प्रशंसनीय कोशिशों को नाकाम करने के षड्यंत्र थे। अचानक 'जनवाणी' के प्रोड्यूसर पर गाज गिरी और उसे 2-2½ वर्ष अनेक तरह की यातनाओं से गुजरना पड़ा। तरह-तरह के इल्जाम लगे। सस्पेंशन, तबादला, हार्ट अटैक, मां की मृत्यु, डिपार्टमेंटल इंक्वायरी... अर्थ कष्ट!! यह भी है कि हर जांच में वह पाक-साफ निकला, लेकिन तब तक जनवाणी का प्रोड्यूसर काफी संत्रास झेल चुका था।

प्रोड्यूसर बदला गया, मगर 'जनवाणी' फिर जनता की वाणी नहीं रही। उसने अपनी आब गंवा दी। जो पहले नहीं होता था, वह होने लगा। सवाल पहले ही मंत्री के हवाले होने लगे। नतीजा ये कि जनवाणी की आग ठंडी हो गई। 'जनता' की 'जनवाणी' कुंद कर दी गई। यह अलग बात है कि तत्कालीन प्रधानमंत्री ने सच जानकर उन सबको दंडित करवाया, जिन्होंने 'जनवाणी' और उसके प्रोड्यूसर को नष्ट करने में अहम भूमिका निभाई थी।

कमानी सभागार में अपने उद्बोधन के बाद इसके प्रोड्यूसर ने कहा भी था—'...गंदी राजनीति में कुछ भी हो सकता है, आज भी हो रहा है। आज तो पेड न्यूज का जमाना भी है, लेकिन ये गणेशशंकर विद्यार्थी, प्रेमचंद, पराडकर, सप्रे, भगतसिंह जैसे संपादकों-पत्रकारों का भी देश है...। सच और जनहित की रक्षा करनेवाले पत्रकार-लेखक-प्रसारक पहले भी थे, आज भी हैं और रहेंगे। उन्हें बाहरी-भीतरी दबाव और खतरे, पहले भी झेलने पड़े, आज भी झेलने पड़ रहे हैं, लेकिन राह तो यही है। और कोई विकल्प नहीं है।

मुझे फख्र है कि 'जनवाणी' के सच ने 25 वर्षों के बाद भारतीय भाषाओं के पत्रकारों और समाचार चैनलों को प्रेरणा दी कि वे एक इतना बड़ा मंच तैयार करें, जिस पर पहुंच कर लगभग हर वक्ता ने 'जनवाणी' को आदर्श की तरह आदर दिया और उसे अपने वक्तव्य का प्रस्थान बिंदु बनाया। यह जनोन्मुख पत्रकारिता की जययात्रा ही कही जाएगी।

159, आकाश दर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-91 मो. 9868240906

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/ रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

गांधी बिकाऊ नहीं, टिकाऊ हैं

अनंत विजय

कुछ दिनों पहले ही हिंदी-अंग्रेजी में एक साथ प्रकाशित बेवसाइट फेस एंड फैक्ट्स के प्रबंध संपादक जय प्रकाश पांडे का बेहद गुस्से में फोन आया। उन्होंने बताया कि न्यूयॉर्क टाइम्स के पूर्व कार्यकारी संपादक जोसेफ लेलीवेल्ड ने महात्मा गांधी का अपमान करते हुए एक किताब लिखी है—'ग्रेट सोल—महात्मा गांधी एंड हिज स्ट्रगल विद इंडिया' जिसमें गांधी को समलैंगिक करार दिया है। जब मैंने उनसे पूछा कि उन्हें यह बात कहां से पता चली तो उन्होंने कहा कि ब्रिटेन के अखबार डेली मेल ने एक लेख छापा है जिसका शीर्षक है—गांधी लेफ्ट हिज वाइफ टू लिव विद मेल लवर। यह लेख जोसेफ लेलीवेल्ड की नई किताब के हवाले से छापा गया था। उन्होंने तत्काल मुझसे प्रतिक्रिया मांगी ताकि उसको प्रकाशित किया जा सके। चूंकि मैंने न तो किताब पढ़ी थी और न ही 'डेली मेल' का उक्त लेख पढ़ा था इसलिए मैंने गांधी से जुड़ी एक कहानी उन्हें सुना दी एक बार गांधीजी ट्रेन से सफर कर रहे थे, किसी स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो गांधी ने देखा कि एक आदमी उनसे मिलने की कोशिश कर रहा है और उनके समर्थक उसे रोक रहे हैं वह लगातार मिन्नतें कर रहा था लेकिन लोग उनको गांधी तक पहुंचने नहीं दे रहे थे। उन्होंने अपने पास के लोगों से मामले की जानकारी चाही। गांधी को बताया गया कि जो आदमी उनसे मिलने की जिद कर रहा है, दरअसल वह एक लेखक है और उसने गांधी को केंद्र में रखकर एक किताब 'ROGUE OF INDIA' लिखी है। वह उस किताब पर गांधी जी के दस्तखत चाहता है। लोगों को लग रहा था जिस किताब का शीर्षक ही इतना अपमानित करनेवाला है उसमें भीतर तो और भी विषवमन होगा। इस वजह से उसे गांधी से मिलने से रोका जा रहा था। गांधी को जब पूरी बात पता चली तो उन्होंने उस व्यक्ति को अपने पास बुलाया, प्यार से बिठाया और हाल-चाल पूछने के बाद उसकी लिखी किताब पर अपने हस्ताक्षर कर उसको वापस लौटा दिया। उसके जाने के बाद गुस्साए गांधी के समर्थकों ने बापू से पूछा कि उन्होंने उस व्यक्ति की किताब पर हस्ताक्षर क्यों किए जो उनको ROGUE OF INDIA बता रहा है। गांधी जी ने मुस्कुराते हुए जबाव दिया कि सबको अपनी राय बनाने और उसे व्यक्त करने का हक है। यह कहानी सुनाकर तो मैं उस वक्त बचकर निकल गया लेकिन मेरे मन में गांधी पर लिखी लेलीवेल्ड की किताब पढ़ने की इच्छा जोर मारने लगी।

दो-तीन किताब की दुकानों पर फोन करने पर पता चला कि यह किताब अभी भारत में उपलब्ध नहीं है। फिर मैंने डेली मेल का लेख पढ़ा। उसको पढ़ने के बाद पूरा तो नहीं लेकिन माजरा कुछ-कुछ समझ में आने लगा। इस बीच मुंबई के एक अखबार ने डेली मेल के उस लेख के हवाले से यह खबर छाप दी कि एक जर्मन व्यक्ति से गांधी का 'सिक्रेट लव' था। इस लेख के छपने के बाद बवाल मचना था सो मचा। बगैर पढ़े-देखे आनन-फानन में गुजरात विधानसभा ने सूबे में किताब पर पाबंदी लगाने के प्रस्ताव को मंजूरी दे दी। महाराष्ट्र में भी ऐसी ही मांग उठी कि लेलीवेल्ड की किताब पर बैन लगा दिया जाए। केंद्र सरकार के मंत्री भी इसमें राष्ट्रपिता का अपमान देखने लगे। यह सबकुछ सिर्फ एक लेख की बिना पर होने लगा, बगैर किताब पढ़े। लेकिन अब यह किताब भारत में उपलब्ध है। मुझे लग रहा था कि गांधी के बारे में इस किताब में कुछ नया खुलासा होगा लेकिन पढ़ने के बाद निराशा हुई और लगा कि डेली मेल का लेख बेहद सनसनीखेज और सत्य से परे था। दरअसल पश्चिमी देशों में किताब को हिट कराने का यह घिसा-पिटा फॉर्मूला है । किताब के बाजार में आते ही उसके बारे में उत्सुकता का एक ऐसा वातावरण तैयार किया गया और प्रकाशक या फिर लेखक के रणनीतिकारों ने बिक्री बढ़ाने के लिए गांधी की इस जीवनी के कुछ चुनिंदा अंश लीक किए ताकि मीडिया में खबर बन सके और वे लोग ऐसा करने में कामयाब भी हो गए। गांधी और हरमन कैलेनबाख के संबंध के बारे में गांधी के कुछ पत्रों को इस तरह से प्रचारित किया गया कि लेखक लेलीवेल्ड ने कुछ महान खोज कर डाली हो। गांधी के बारे में कुछ ऐसा सत्य उद्घाटित कर दिया

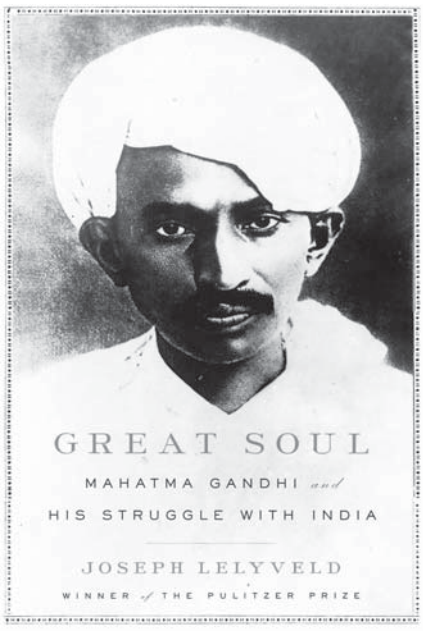

गया हो जो पहले से ज्ञात नहीं था। जबकि सच्चाई यह है कि गांधी के जिन पत्रों को आधार बनाकर लेलीवेल्ड ने कुछ बातें की है वे पत्र सालों से राष्ट्रीय अभिलेखागार में और साबरमती आश्रम में मौजूद हैं। जब गांधी और कैलेनबाख के संबंधों को आधार बनाकर अखबारों में लेख और समीक्षाएं छपीं तो दुनियाभर में गांधी के प्रशंसकों ने इसका विरोध शुरू कर दिया। यह विरोध जितना तीव्र होता गया किताब की बिक्री उतनी ही ज्यादा बढ़ती चली गई।

आधुनिक भारत के इतिहास में या यों कहें कि बीसवीं शताब्दी के विश्व इतिहास में महात्मा गांधी एक ऐसी शख्सियत है जिसके व्यक्तित्व की गुत्थी सुलझाना विद्वानों के लिए एक बड़ी चुनौती रही है। महात्मा गांधी के व्यक्तित्व के इतने आयाम हैं कि एक को पकड़ो तो दूसरा छूट जाता है । गांधी विश्व के इकलौते ऐसे शख्स हैं जिनकी मृत्यु के साठ साल बाद भी उन पर, उनके विचारों और लेखन पर लगातार शोध और लेखन हो रहा है। न्यूयॉर्क टाइम्स के पूर्व कार्यकारी संपादक ने भी गांधी और उनके व्यक्तित्व को अपने तरीके से उद्घाटित करने का असफल प्रयास किया है। साठ के दशक में लेलीवेल्ड भारत में न्यूयॉर्क टाइम्स के प्रतिनिधि थे। चूंकि वे भारत को नजदीक से देख-समझ चुके थे इसलिए भी उनसे गांधी को और उनके पत्रों के आधार पर इस तरह के सनसनीखेज निष्कर्षों की उम्मीद नहीं थी। अब हम जोसेफ लेलीवेल्ड की किताबों के कुछ अंश पर नजर डालते हैं जिससे लेखक की मंशा साफ हो जाती है। गांधी अगर प्रेम में नहीं थे तो भी वे आर्किटेक्ट हरमन कैलेनबाख के प्रति आकर्षित थे। 1909 में लंदन से भेजे एक पत्र में गांधी ने कैलेनबाख को लिखा था—तुम्हारी तस्वीर मेरे शयनकक्ष में मैंटलपीस पर रखी है जो मेरे बिस्तर के ठीक सामने है। फिर वे आगे लिखते हैं कि रुई के फाहे और वैसलीन नियमित तौर पर याद दिलाते हैं। इसके आगे गांधी ने लिखा कि मुद्दा तुम्हें और मुझे यह दिखाने का है कि तुमने कितनी पूर्णता से मेरे शरीर पर कब्जा कर लिया है, यह एक प्रतिशोधपूर्ण गुलामी है (पृ-89)'' अब हम कब्जा शब्द का क्या अर्थ निकालें या फिर पेट्रोलियम जेली के इस्तेमाल का क्या अर्थ निकालें जो आज की तरह उस वक्त भी किसी भी काम के लिए मरहम के तौर पर उपयोग में आता था। विश्वसनीय अनुमान तो यह हो सकता है कि लंदन के होटल के कमरे में वैसलीन एनीमा के लिए रही होगी जो गांधी की नियमित दिनचर्या में शामिल था या फिर यह किसी और उमंग के पहले की छाया रहा हो जो उत्साह गांधी ने बूढ़े होने पर मालिश के लिए दिखाया था। मालिश के प्रति गांधी का लगाव सर्वज्ञात था और देश भर के दौरों के बीच वे महिलाओं से मालिश करवाने में रुचि रखते थे। मालिश की भी उनके जीवनकाल में काफी चर्चा होती थी और वह चर्चा कभी खत्म नहीं हुई ।

तकरीबन दो वर्ष बाद विनोदी स्वभाव के गांधी ने अपने दोस्त से समझौते के लिए एक अर्ध-सहमति पत्र बनाया था जिसमें वैसे नामों का प्रयोग किया गया था जिसे हम मजाकिया कह सकते हैं। उम्र में अपने से दो वर्ष छोटे कैलेनबाख को लोअर हाऊस और खुद को अपर हाऊस कहते थे।.....कैलेनबाख के यूरोप दौरे के पहले 29 जुलाई 1911 को आपसी सहमति पत्र में अपर हाऊस ने लोअर हाऊस से यह वादा करवाया था कि उनकी गैरहाजिरी में कोई विवाह नहीं करेगा और न ही किसी महिला की ओर ललचाई नजरों से देखेगा। इसके बाद दोनों हाऊसों ने आपस में ज्यादा प्रेम और फिर और ज्यादा प्रेम का वादा किया। यह उस वक्त की बात है जब 1908 में गांधी की जेल यात्राओं और 1909 में उनकी लंदन यात्रा की अवधि को छोड़कर साथ रहते हुए तकरीबन तीन वर्ष बीत चुके थे। यहां यह बात स्मरणीय है कि हमारे पास सिर्फ गांधी के पत्र हैं जो हमेशा से डियर लोअर हाऊस से शुरू होते हैं। हम अगर गांधी के पत्रों में लिखे गए अन्य संदर्भों और घटनाओं को छोड़ दें तो उससे ही दोनों के बीच के प्रेम के सूत्र निकलते हैं। पत्रों की व्याख्या हमेशा से दो तरह से की जा सकती है—एक तो हम अनुमानों के समंदर में डूब उतरा सकते हैं और दूसरा तरीका यह हो सकता है कि यह देखें कि दो व्यक्ति अपनी यौन इच्छाओं के दमन के लिए अपने प्रयासों के बारे में क्या कहते-सोचते हैं।

जोसेफ लेलीवेल्ड ने इन्हीं पत्रों को आधार बनाकर गांधी के सेक्स जीवन के बारे में लिखा है। लेकिन लिखते वक्त लेलीवेल्ड यह भूल गए कि गांधी में अपनी कामुकता को लेकर सार्वजनिक रूप से बात करने का अद्वितीय साहस था। 1906 में गांधी ने बह्मचर्य को अपना लिया था और उसके बाद से वे अपनी कामेच्छाओं के बारे में खुलकर लिखते बोलते थे और अपनी निजता का त्याग कर चुके थे। मालिश कराने के उनके शौक को लेलीविल्ड ने कामेच्छा से जोड़ने की कोशिश की है। लेकिन उन्हें यह याद दिलाने की जरूरत है कि मालिश कराना और एनीमा लेना गांधी की दिनचर्या में उनकी जिंदगी के आखिर तक बना रहा। सिर्फ इन बातों को आधार बनाकर गांधी के सेक्स जीवन की इस गलीज व्याख्या के लिए जोसेफ लेलीवेल्ड को जीवनी लिखने की जरूरत नहीं थी। अगर गांधी पर लिखी जीवनियों से इस किताब की तुलना करें तो यह एक बेहद कमजोर कृति लगती है। दरअसल यह कृति गांधी की सही मायने में जीवनी भी नहीं है और न ही गांधी के बारे में जानने की इच्छा रखनेवाले शुरुआती पाठकों के लिए उपयोगी किताब है। इस पूरी किताब को पढ़ते वक्त यह महसूस होता है कि लेखक यह मानकर चल रहा है कि पाठक को गांधी के बारे में, उनके क्रियाकलापों के बारे में जानकारी है और अपने इसी आग्रह के आधार पर किताब चलती रहती है। अंत में सिर्फ इतना कहा जा सकता है कि जोसेफ लेलीवेल्ड ने अपने तरीके से गांधी के पुरुष मित्रों के संबंध को व्याख्यायित किया है और इसका उन्हें हक भी है। किताब पर पाबंदी लगाने या देश भर में इसे प्रतिबंधित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। खुद गांधी भी अगर जीवित होते तो इसपर पाबंदी के खिलाफ होते। और तो और लेलीवेल्ड के आग्रह पर इस किताब पर अपना हस्ताक्षर कर देते क्योंकि गांधी ने अपने जीवन के सच और यथार्थ को छुपाया नहीं, खोलकर पाठकों के सामने रख दिया। उनमें जबर्दस्त नैतिक साहस था।

ग्रेट सोल : महात्मा गांधी एंड हिज स्ट्रगल विद इंडिया/जोसेफ लेलीवेल्ड/हॉर्पर कॉलिंस पब्लिशर्स इंडिया, ए-53, सैक्टर 57, नोएडा/ मूल्य : ₹ 699

321-बी, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश-201014 मो. 09871697248

ईमेल : anant-ibn@gmail-com